ईशावास्योपनिषदि
विशिष्टाद्वैतपरकम्
श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)
भाष्यकाराः – जगद्गुरुरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यमहाराजाः चित्रकूटीयाः

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

ईशावास्योपनिषदि
(विशिष्टाद्वैतपरकम्)

श्रीराघवकृपाभाष्यम्
(संस्कृत-हिन्दी भाष्य सहितम्)

भाष्यकाराः-
जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्याः
स्वामिरामभद्राचार्यजीमहाराजाः
चित्रकूटीयाः

प्रकाशक :
श्रीतुलसीपीठसेवान्यासः
तुलसीपीठः, आमोदवनम्
श्रीचित्रकूटधाम, जनपदं-सतना (म० प्र०)

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

प्रकाशकीयम्

नीलनीरदसंकाशकान्तये श्रितशान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ।।

साम्प्रतिकबुद्धिजीविवर्गे पण्डितसमाजे च श्रीवैष्णवसत्समाजे को नाम नाभिनन्दति ? पदवाक्यप्रमाणपारावारीणकवितार्किकचूडामणिसारस्वत-सार्वभौमपण्डितप्रकाण्डपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीवैष्णवकुलतिलकत्रिदण्डीश्वर-श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वरजगद्गुरुरामानन्दाचार्यवाचस्पतिमहामहनीयस्वामिरामभद्राचार्य-महाराजराजिष्णुप्रतिभाधनम् । आचार्यचरणैः श्रीसम्प्रदायश्रीरामानन्दीय-श्रीवैष्णवानुमोदितविशिष्टाद्वैतवादाम्नायमनुसृत्य ईशावास्यादि बृहदारण्यकान्तानामेका-दशोपनिषदां श्रीराघवकृपाभाष्यं प्रणीय भारतीयसंस्कृतवाङ्मयसनातनधर्मावलम्बिनां कियान् महान् उपकारो व्यधायीति तु निर्णेष्यतीतिहासः सोल्लासः । अस्य ग्रन्थरत्नस्य प्रकाशनदायित्वं श्रीतुलसीपीठसेवान्यासाय प्रदाय ऋणिनः कृता वयं श्रीमज्जगद्गुरुभिः वयं तेषां सततमाधमर्ण्यभाजः । अहं धन्यवादं दित्सामि साधुवादं च, वाराणसीस्थाय राघव ऑफसेट मुद्रणालयाध्यक्षाय चन्दनेशाय श्रीविपिनशंकरपाण्ड्यामहाभागाय, येन महता परिश्रमेण निष्ठया च गुरुगौरवेण जनताजनार्दनकरकमलं समुपस्थापितं ग्रन्थरत्नमेतत् । अहमाभारं बिभर्मि सकल-शास्त्रनिष्णातानां पण्डितप्रवराणां मुद्रणदोषनिराकरणचञ्चुनां जगद्गुरुवात्सल्यभाजनानां परमकुशलकर्मणां पं० प्रवर श्रीशिवरामशर्मणाम् पं० कृपासिन्धुशर्मणाम् च ।

अन्ततः साग्रहं निवेदयामि सर्वान् विद्वत्प्रवरान्, यत्—

ग्रन्थरत्नमिदं मत्वा सीताभर्तुरनुग्रहम् ।
निराग्रहाः समर्चन्तु रामभद्रार्यभारतीम् ।।

इति निवेदयते
राघवीया
कु० गीता देवी
प्रबन्धन्यासी, श्रीतुलसीपीठसेवान्यासस्य

द्वित्राः शब्दाः

श्रीराघवाष्टकम्

निशल्या कौसल्या सुखसुरलतातान्तिहृतये ।
यशोवारां राशेरुदयमभिकाङ्क्षन्निव शशी ।
समञ्चन् भूभागं प्रथयितुमरागं पदरतिम् ।
तमालश्यामो मे मनसि शिशुरामो विजयते ।।१।।

क्वचित् क्रीडन् व्रीडाविनतविहगैर्वृन्दविरुदो ।
विराजन् राजीवैरिव परिवृतस्तिग्मकिरणः ।
रजोवृन्दं वृन्दाविमलदलमालामलमलम् ।
स्वलङ्कुर्वन् बालः स इह रघुचन्द्रो विजयते ।।२।।

क्वचिन् माद्यन् माद्यन् मधुनवमिलिन्दार्यचरणा- ।
म्बुजद्वन्द्वो द्वन्द्वापनयविधिवैदग्ध्यविदितः ।
समाकुञ्चत् केशैरिव शिशुघनैः संवृतमिव ।
विधुं वक्त्रं विभ्रन् नरपतितनूजो विजयते ।।३।।

क्वचित् खेलन् खेलन् मृदुमरुदमन्दाञ्चलचल- ।
च्छिरः पुष्पैः पुञ्जैर्विवुधललनानामभिचितः ।
चिदान्दो नन्दन् नवनलिननेत्रो मृदुहसन् ।
लसन् धूलीपुञ्जैर्जगति शिशुरेको विजयते ।।४।।

क्वचिन् मातुः क्रोडे चिकुरनिकरैरंजितमुखः ।
सुखासीनो मीनोपमदृशिलसत्कज्जलकलः ।
कलातीतो मन्दस्मितविजितराकापतिरुचिः ।
पिबन् स्तन्यं रामो जगति शिशुहंसो विजयते ।।५।।

क्वचिद् बालो लालालसितललिताम्भोजवदनो ।
वहन् वासः पीतं विशदनवनीतौदनकणान् ।

विलुण्ठन् भूभागे रजसि विरजा सम्भृत इव ।
तृषा ताम्यत्कामो भवभयविरामो विजयते ।।६।।

क्वचिद् राज्ञो हर्षं प्रगुणयितुकामः कलगिरा ।
निसिञ्चन् पीयूषं श्रवणपुटके सम्मतसताम् ।
विरिंगन् पणिभ्यां वनरुहपदाभ्यां कलदृशा ।
निरत्यन् नैराश्यं नवशशिकरास्यो विजयते ।।७।।

क्वचिन् नृत्यन् छायाछ्छुपितभवभीतिर्भवभवो ।
दधानोऽलंकारं विगलितविकारं शिशुवरः ।
पुरारातेः पूज्यः पुरुषतिलकः कन्दकमनः ।
अयोध्यासौभाग्यं गुणितमिहरामो विजयते ।।८।।

जयत्यसौ नीलघनावदातो ।
विभा विभातो जनपारिजातः ।
शोभा समुद्रो नरलोकचन्द्रः ।
श्रीरामचन्द्रो रघुचारुचन्द्रः ।।९।।

ईशावास्यसमारब्धाः बृहदारण्यकान्तिमाः ।
ऐकादशोपनिषदो विशदाः श्रुतिसम्मताः ।।१०।।

श्रीराघवकृपाभाष्यनाम्ना भक्तिसुगन्धिना ।
पुण्यपुष्पोत्करेणेड्याः मया भक्त्या प्रपूजिताः ।।११।।

क्वचित्क्वचित् पदच्छेदः क्वचिदन्वययोजना ।
क्वचिच्छास्त्रार्थपद्धत्या पदार्थाः विशदीकृताः ।।१२।।

खण्डनं परपक्षाणां विशिष्टाद्वैतमण्डनम् ।
चन्दनं वैष्णवसतां श्रीरामानन्दनन्दनम् ।।१३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं भूषितं सुरभाषया ।
भाषितं भव्यया भक्त्या वेदतात्पर्यभूषया ।।१४।।

प्रमाणानि पुराणानां स्मृतीनामागमस्य च।
तथा श्रीमानसस्यापि दर्शितानि स्वपुष्टये।।१५।।

प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दञ्चेति यथास्थलम्।
प्रमाणत्रितायं ह्यत्र तत्वत्रयविनिर्णयम्।।१६।।

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तदर्पणं श्रुतितर्पणम्।
अर्पणं रामभद्रस्य रामभद्रसमर्पणम्।।१७।।

यदि स्युः त्रुटयः काश्चित्ताः ममैवाल्पमेधसः।
यदत्र किञ्चिद्वैशिष्ट्यं तच्छ्रीरामकृपाफलम्।।१८।।

रुद्रसंख्योपनिषदां मया भक्त्या प्रभाषितम्।
श्रीराघवकृपाभाष्यं शीलयन्तु विमत्सराः।।१९।।

इति मंगलमाशास्ते
श्रीवैष्णवविद्वत्प्रीतिवशंवदो राघवीयो जगद्गुरु रामानन्दाचार्यो स्वमिरामभद्राचार्यः
अधिचित्रकूटम्।

•

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

उपोद्घात

जानकीजानये मेघश्यामायामिततेजसे ।
पूर्णाय पूर्णकामाय नमो रामाय ब्रह्मणे ।।

परिपूर्णतम परात्पर परमात्मा भगवान् परब्रह्म श्रीसीतारामजी के निःश्वास भूत है। पुराणेतिहास सहित चारों वेद ''यस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदः'' (छा० ७-१-२) ''जाकी सहज श्वास श्रुतिचारी'' (मानस– १-२०५-५) उनमें शुक्ल यजुर्वेद को आहुति प्रधान होने के कारण कर्मकाण्ड जगत् में अत्यन्त समादर प्राप्त हुआ है। उसकी अनेक संहिताओं में सम्प्रति प्रचलित वाजसनेयी माध्यन्दिनी शाखाओं की संहिता अद्यतन समस्त संहिताओं की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक एवं सर्वप्रसिद्ध है। इसी पर उब्बट आदि विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अनेक भाष्य प्रस्तुत किये हैं। इसका चालीसवाँ अध्याय ही ईशावास्योपनिषद् के नाम से जाना जाता है। यह उपनिषद् परम्परा का सर्वप्रथम उपनिषद् मात्र अठारह मन्त्रों वाला है, क्योंकि इससे अतिरिक्त और उपनिषद् वेद के ब्राह्मण भाग से लिये गये हैं। मन्त्र और ब्राह्मण में इतना ही मौलिक अन्तर है कि मन्त्र भाग कभी-भी स्वर निरपेक्ष नहीं होता तथा ब्राह्मण भाग में स्वर सापेक्षता की बाध्यता नहीं रहती।

अतः ब्राह्मणभागीय श्रुतियों को पढ़ने से भी पुण्यजनकतावच्छेदकता बनी रहती है, परन्तु मन्त्र भागीय श्रुतियों में सस्वर पाठ का ही आग्रह रहता है। इसलिए इस भाग को ब्राह्मण भाग की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माना जाता है।

शुक्लयजुर्वेद के अन्य उनतालिस अध्यायों के साथ अन्तिम अर्थात् चालीसवें अध्याय का भी कर्मकाण्ड की दृष्टि से प्रवृत्तिवादी वैदिक विद्वानों ने अनेक भाष्य प्रस्तुत किये परन्तु उपनिषद् होने के कारण निवृत्तिवादियों ने भी इस पर अनेक भाष्यों की रचना कर अपने-अपने सिद्धान्तों को श्रुति सम्मत सिद्ध करने का प्रयास किया। जिनमें शंकर, रंगरामानुज, मध्व, निम्बार्क, बलदेवभूषण आदि आचार्य सादर स्मरणीय हैं।

इसी आचार्य परम्परा में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के निष्पक्षपात् आलोक में मैंने भी ईशावास्य उपनिषद् पर संस्कृत तथा हिन्दी में श्रीराघवकृपाभाष्य की रचना करके भगवति श्रुति की भक्तिपूर्ण समर्चा का प्रयास किया है। इसकी सफलता के सन्दर्भ में तो आप सब सुधी अध्येताओं की प्रसन्नता ही प्रमाण होगी, परन्तु इतना तो साधिकार कह सकता हूँ कि अब तक के लिखे गये सभी भाष्यों की अपेक्षा मेरे भाष्य में आपको निश्चित रूप से अनेक स्थलों में नवीनता के दर्शन होंगे। जिससे आपको श्रीराघवकृपा को प्रणाम करने की उत्कण्ठा प्रेरित करेगी।

यथासंभव मैंने श्रुतिसिद्धान्तों की रक्षा करते हुए भी प्राचीन व्याख्याओं की पुनरावृत्ति नहीं की है। शब्दों के खींचतान किए बिना सहजतः प्रभु श्रीसीतारामजी की कृपा, जगद्गुरु श्रीमदाद्य रामानन्दाचार्य तथा श्रीगोस्वामी श्रीतुलसीदास जी महाराज की अहैतुकी अनुकम्पा एवं श्रीवैष्णव महानुभावों के आशीर्वाद से स्फुरित श्रौत सिद्धान्तों को गुंफित करने का मैंने प्रयत्न मात्र किया है। मुझे विश्वास है कि ईशावास्य उपनिषद् पर मेरे द्वारा प्रस्तुत श्रीराघवकृपाभाष्य का अनुशीलन करके आप इस सारस्वत अर्चना से प्रसन्न होकर श्रीराघवकृपा की अनुभूति कर सकेंगे।

।। इति मङ्गलमाशास्ते जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य
तुलसीपीठ, आमोदवन श्रीचित्रकूटधाम ।।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

●

वाचस्पति, श्री तुलसी पीठाधीश्वर
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज
तुलसीपीठ, आमोदवन, चित्रकूट, जि. सतना (म.प्र.)

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण, विद्यावारिधि, वाचस्पति परमहंस परिव्राजिकाचार्य, आशुकवि यतिवर्य प्रसथानत्रयी भाष्यकार धर्मचक्रवर्ती अनन्तश्री समलंकृत

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

पूज्यपाद

श्री श्री स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज

का

संक्षिप्त जीवन वृत्त

आविर्भाव

आपका अविर्भाव १४ जनवरी १९५० तदनुसार मकर संक्राति की परम पावन सान्ध्य बेला में वसिष्ठ गोत्रीय उच्च धार्मिक सरयूपारीण ब्राह्मण मिश्र वंश में उत्तर-प्रदेश के जौनपुर जनपद के पवित्र ग्राम शाडीखुर्द की पावन धरती पर हुआ। सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाले हरिभक्त, या मानवता की सेवा करने वाले दानवीर, या अपनी मातृभूमि की रक्षा में प्राण बलिदान करने वाले शूर-वीर योद्धा, देशभक्त, को जन्म का सौभाग्य तो प्रभुकृपा से किसी भी माँ को मिल जाता है। परन्तु भक्त, दाता और निर्भीक तीनों गुणों की संपदा से युक्त बालक को जन्म देने का परम श्रेय अति विशिष्ठ भगवत् कृपा से किसी विरली माँ को ही प्राप्त होता है। अति सुन्दर एवं दिव्य बालस्वरूप आचार्य-चरण को जन्म देने का परम सौभाग्य धर्मशीला माता श्रीमती शची देवी और पिताश्री का गौरव पं० श्रीराजदेव मिश्रजी को प्राप्त हुआ।

आपने शैशव अवस्था में ही अपने रूप, लावण्य एवं मार्धुय से सभी परिवार एवं परिजनों को मोहित कर दिया। आप की बाल क्रीड़ाएँ अद्भुत थी। आपके श्वेतकमल समान सुन्दर मुख मण्डल पर बिखरी मधुर मुस्कान, हर देखने वाले को सौम्यता का प्रसाद बाँटती थी। आपका विस्तृत एवं तेजस्वी ललाट, आपके अपार शस्त्रीय ज्ञानी तथा त्रिकालदर्शी होने का पूर्व संकेत देता था। आपका प्रथम दर्शन मन को शीतलता प्रदान करता था। आपके कमल समान नयन उन्मुक्त हास्यपूर्ण मधुर चितवन चंचल बाल क्रीड़ाओं की चर्चा शीघ्र ही किसी महापुरुष के प्राकट्य की शुभ सूचना की भान्ति दूर-दूर तक फैल गई, और यह धारणा बन गई कि

यह बालक असाधारण है। 'होनहार विरवान के होत चीकने पात' की कहावत को आपने चरितार्थ किया।

भगवत् इच्छा

अपने प्रिय भक्त को सांसारिक प्रपञ्चों से दूर रखने के लिए विधाता ने आचार्य वर के लिए कोई और ही रचना कर रखी थी। जन्म के दो महीने बाद ही नवजात शिशु की कोमल आँखों को रोहुआ रोग रूपी राहू ने तिरोहित कर दिया। आचार्य प्रवर के चर्मनेत्र बन्द हो गए। यह हृदय विदारक दुर्घटना प्रियजनों को अभिशाप लगी, परन्तु नवजात बालक के लिए यह वरदान सिद्ध हुई। अब तो इस नन्हे शिशु के मन-दर्पण पर परमात्मा के अतिरिक्त जगत् के किसी भी अन्य प्रपञ्च के प्रतिबिम्बित होने का कोई अवसर ही नहीं था। आपको दिव्य प्रज्ञा-चक्षु प्राप्त हो गए। आचार्य प्रवर ने भगवत् प्रदत्त अपनी इस अन्तर्मुखता का भरपूर उचित उपयोग किया। अब तो दिन-रात परमात्मा ही आपके चिन्तन, मनन और ध्यान का विषय बन गए।

आरम्भिक शिक्षा

अन्तर्मुखता के परिणामस्वरूप आपमें दिव्य मेधाशक्ति और अद्भुत स्मृति का उदय हुआ, जिसके फलस्वरूप कठिन से कठिन श्लोक, कवित्त, छन्द, सवैया आदि आपको एक बार सुनकर सहज कण्ठस्थ हो जाते थे। मात्र पांच वर्ष की आयु में आचार्यश्री ने सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता तथा मात्र आठ वर्ष की शैशव अवस्था में पूज्य पितामह श्रीयुत् सूर्यबली मिश्र जी के प्रयासों से गोस्वामी तुलसीदास जी रचित सम्पूर्ण रामचरितमानस क्रमबद्ध पंक्ति, संख्या सहित कण्ठस्थ कर ली थी। आपके पूज्य पितामह आपको खेत की मेड़ पर बिठाकर आपको एक-एक बार में श्रीमानस के पचास पचास दोहों की आवृत्ति करा देते थे। हे महामनीषी, आप उन सम्पूर्ण पचास दोहों को उसी प्रकार पंक्ति क्रम संख्या सहित कण्ठस्थ कर लेते थे। अब आप अधिकृत रूप से श्रीरामचरितमानससरोवर के राजहंस बन कर श्रीसीता-राम के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम और ध्यान में तन्मय हो गए।

उपनयन एवं दीक्षा

आपका पूर्वाश्रम का नाम 'गिरिधर-मिश्र' था। इसलिए गिरिधर जैसा साहस, भावुकता, क्रान्तिकारी स्वभाव, रसिकता एवं भविष्य निश्चय की

दृढ़ता तथा निःसर्ग सिद्ध काव्य प्रतिभा इनके स्वभाविक गुण बन गये। बचपन में ही बालक गिरिधर लाल ने छोटी-छोटी कविताएँ करनी प्रारम्भ कर दी थीं। २४ जून १९६१ को निर्जला एकादशी के दिन 'अष्टवर्ष ब्राह्माणमुपनयीत' इस श्रुति-वचन के अनुसार आचार्यश्री का वैदिक परम्परापूर्वक उपनयन संस्कार सम्पन्न किया गया तथा उसी दिन गायत्री दीक्षा के साथ ही तत्कालीन मूर्धन्य विद्वान् सकलशास्त्र-मर्मज्ञ पं० श्रीईश्वरदास जी महाराज जो अवध-जानकीघाट के प्रवर्तक श्री श्री १०८ श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज के परम कृपापात्र थे, इन्हें राम मन्त्र की दीक्षा भी दे दी।

उच्च अध्ययन

आपमें श्रीरामचरितमानस एवं गीताजी के कण्ठस्थीकरण के पश्चात् संस्कृत में उच्च अध्ययन की तीव्र लालसा जागृत हुई और स्थानीय आदर्श श्री गौरीशंकर संस्कृत महाविद्यालय में पाँच वर्ष पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण की शिक्षा सम्पन्न करके आप विशेष अध्ययन हेतु वाराणसी आ गये। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की १९७३ शास्त्री परीक्षा में विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर एक स्वर्ण पदक प्राप्त किया एवं १९७६ की आचार्य की परीक्षा में समस्त विश्वविद्यालय में छात्रों में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त कर पाँच स्वर्ण पदक तथा एक रजत पदक प्राप्त किया। वाक्पटुता एवं शास्त्रीय प्रतिभा के धनी होने के कारण आचार्यश्री ने अखिल भारतीय संस्कृत अधिवेशन में सांख्य, न्याय, व्याकरण, श्लोकान्त्याक्षरी तथा समस्यापूर्ति में पाँच पुरस्कार प्राप्त किये, एवं उत्तर प्रदेश को १९७४ की 'चलवैजयन्ती' प्रथम पुरस्कार दिलवाया। १९७५ में अखिल भारतीय संस्कृत वाद-विवाद प्रतियोगिता में प्रथम स्थान प्राप्त कर तत्कालीन राज्यपाल डॉ० एम० चेन्ना रेड्डी से कुलाधिपति 'स्वर्ण पदक' प्राप्त किया। **इसी प्रकार आचार्यचरणों ने शास्त्रार्थों एवं भिन्न-भिन्न शैक्षणिक प्रतियोगिताओं में अनेक शील्ड, कप एवं महत्वपूर्ण शैक्षणिक पुरस्कार प्राप्त किये।** १९७६ वाराणसी साधुबेला संस्कृत महाविद्यालय में समायोजित शास्त्रार्थ आचार्यचरण प्रतिभा का एक रोमांचक परीक्षण सिद्ध हुआ। इसमें आचार्य अन्तिम वर्ष के छात्र, प्रत्युत्पन्न मूर्ति, शास्त्रार्थ-कुशल, श्री गिरिधर मिश्र ने 'अधातु परिष्कार' पर पचास विद्यार्थियों एवं अध्यापकों को अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं शास्त्रीय युक्तियों से अभिभूत करके निरुत्तर करते हुए सिंहगर्जनपूर्वक तत्कालीन विद्वान् मूर्धन्यों को परास्त किया था। पूज्य आचार्यश्री ने सं०वि०वि० के व्याकरण विभागाध्यक्ष

पं० श्री रामप्रसाद त्रिपाठी जी से भाष्यान्त व्याकरण की गहनतम शिक्षा प्राप्त की एवं उन्हीं की सन्निद्धि में बैठकर न्याय, वेदान्त, सांख्य आदि शास्त्रों में भी प्रतिभा ज्ञान प्राप्त कर लिया एवं 'अध्यात्मरामायणे अपणिनीयप्रयोगाणां विमर्श:' विषय पर अनुसन्धान करके १९८१ में विद्यावारीधि (Ph.D) की उपाधि प्राप्त की। **अनन्तर ''अष्टाध्याय्या: प्रतिसूत्रं शाब्दबोध समीक्षा'' इस विषय पर दो हजार पृष्ठों का दिव्य शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करके आचार्य चरणों ने शैक्षणिक जगत् की सर्वोत्कृष्ट अलंकरण उपाधि वाचस्पति'' (Dlit) प्राप्त की।**

विरक्त दीक्षा

मानस की माधुरी एवं भागवतादि सद्ग्रन्थों के अनुशीलन ने आचार्य-चरण को पूर्व से ही श्री सीतारामचरणानुरागी बना ही दिया था। अब १९ नवम्बर १९८३ की कार्तिक पूर्णिमा के परम-पावन दिवस को श्रीरामानन्द सम्प्रदाय में विरक्त दीक्षा लेकर आचार्यश्री ने एक और स्वर्ण सौरभ-योग उपस्थित कर दिया। पूर्वाश्रम के डॉ० गिरिधर मिश्र अब श्रीरामभद्रदास नाम से समलंकृत हो गये।

जगद्गुरु उपाधि

आपने १९८७ में श्रीचित्रकूट धाम में श्रीतुलसीपीठ की स्थापना की। उसी समय वहाँ के सभी सन्त-महान्तों के द्वारा आपको श्रीतुलसीपीठाधीश्वर पद पर प्रतिष्ठित किया और ज्येष्ठ शुक्ल गंगा दशहरा के परम-पावन दिन वि० सम्वत् २०४५ तदनुसार २४ जून १९८८ को वाराणसी में आचार्यश्री का काशी विद्वत् परिषद् एवं अन्य सन्तमहान्त विद्वानों द्वारा चित्रकूट श्रीतुलसीपीठ के जगद्गुरु रामानन्दाचार्य पर पर विधिवत अभिषेक किया गया एवं ३ फरवरी १९८९ को प्रयाग महाकुम्भ पर्व पर समागत सभी श्री रामानन्द सम्प्रदाय के तीनों अखाड़ों के श्रीमहन्तों चतु:सम्प्रदाय एवं सभी खालसों तथा सन्तों द्वारा चित्रकूट सर्वाम्नाय श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्य महाराज को सर्वसम्मति से समर्थनपूर्वक अभिनन्दित किया।

विलक्षणता

आपके व्यक्तित्व में अद्भुत विलक्षणता है। जिनमें कुछ उल्लेखनीय हैं कोई भी विषय आपको एक ही बार सुनकर कण्ठस्थ हो जाता है और वह कभी विस्मृत नहीं होता। इसी विशेषता के परिणामस्वरूप जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य

जी ने समस्त तुलसी साहित्य अर्थात् तुलसीदास जी के बारहों ग्रन्थ, सम्पूर्ण रामचरितमानस, द्वादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, नारद-भक्तिसूत्र, भागवद्गीता, शाण्डिल्य सूत्र, बाल्मीकीयरामायण व समस्त आर्य ग्रन्थों के सभी उपयोगी प्रमुख अंश हस्तामलकवत् कण्ठस्थ कर लिये। आचार्यश्री हिन्दी एवं संस्कृत के आशुकवि होने के कारण समर्थ रचनाएँ भी करते हैं। वसिष्ठ गोत्र में जन्म लेने के कारण आचार्यवर्य श्रीराघवेन्द्र की वात्सल्य भाव से उपासना करते हैं। आज भी उनकी सेवा में शिशु रूप में श्री राघव अपने समस्त परिकर खिलौने के साथ विराजमान रहते हैं। आचार्यवर्य की मौलिक विशेषता यह है कि इतने बड़े पद को अलंकृत करते हुए भी आपका स्वभाव निरन्तर निरहंकार, सरल तथा मधुर है। विनय, करुणा, श्रीराम-प्रेम, सच्चरित्रता आदि अलौकिक गुण उनके सन्तत्त्व को ख्यापित करते हैं। कोई भी व्यक्ति एकबार ही उनके पास आकर उनका अपना बन जाता है। हे भारतीय संस्कृति के रक्षक! **आप अपनी विलक्षणकथा शैली से श्रोताओं को विभोर कर देते हैं।** माँ सरस्वती की आप पर असीम कृपा है। आप वेद-वेदान्त, उपनिषद्, दर्शन, काव्यशास्त्र व अन्य सभी धार्मिक ग्रन्थों पर जितना अधिकारपूर्ण प्रवचन करते हैं उतना ही दिव्य प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की वाङ्मय मूर्ति महापुराण **श्रीमद्भागवत पर भी करते हैं।** आप सरलता एवं त्याग की दिव्य मूर्ति हैं। राष्ट्र के प्रति आपकी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता एवं विचारों में निर्भीकता जन-जन के लिए प्रेरणादायक है। आपके दिव्य प्रवचनों में ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की त्रिवेणी तो प्रवाहित होती है, साथ ही राष्ट्र का सागर भी उमड़ता है। जिसे आप अपनी सहज परन्तु सशक्त अभिव्यक्ति की गागर में भर कर अपने श्रद्धालु श्रोताओं को अवगाहन कराते रहते हैं।

आपका सामीप्य प्राप्त हो जाने के बाद जीव कृत्य-कृत्य हो जाता है। धन्य हैं वे माता-पिता जिन्होंने ऐसे 'पुत्ररत्न' को जन्म दिया। धन्य हैं वे सद्गुरु जिन्होंने ऐसा भागवत् रत्नाकर समाज को दिया। हे श्रेष्ठ सन्त शिरोमणि! हम सब भक्तगण आपके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गौरवान्वित हैं।

साहित्य सृजन

आपने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से हिन्दी एवं संस्कृत के अनेक आयामों को महत्त्वपूर्ण साहित्यिक उपादान भेंट किये। काव्य, लेख, निबन्ध, प्रवचन संग्रह एवं दर्शन क्षेत्रों में आचार्यश्री की मौलिक रचनाएँ महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री अपने व्यक्तित्व, कृतित्व से श्रीराम-प्रेम एवं सनातन धर्म के चतुर्दिक प्रचार व प्रसार के द्वारा सहस्राधिक दिग्भ्रान्त नर-नारियों को सनातन धर्मपीयूष से जीवनदान करते हुए अपनी यश:सुरभि से भारतीय इतिहास वाटिका को सौरभान्वित कर रहे हैं। तब कहना पड़ता है कि—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने।।

❀ ❀ ❀

संत सरल चित जगतहित, जानि सुभाउ सनेहु।
बाल विनय सुनि करि कृपा, रामचरन रति देहु।।

धर्माचार्य परम्परा :–

भाष्यकार !

प्राचीन काल में धर्माचार्यों की यह परम्परा रही है कि वही व्यक्ति किसी भी सम्प्रदाय के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था, जो उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार वैदुष्यपूर्ण वैदिक भाष्य प्रस्तुत करता था। जिसे हम 'प्रस्थानत्रयी' भाष्य कहते हैं, जैसे शंकराचार्य आदि। आचार्यप्रवर ने इसी परम्परा का पालन करते हुए सर्वप्रथम नारदभक्तिसूत्र पर "श्रीराघवकृपाभाष्यम्" नामक भाष्य ग्रन्थ की रचना की। उसका लोकार्पण १७ मार्च १९९२ को तत्कालीन उप राष्ट्रपति डॉ० शंकरदयाल शर्मा द्वारा सम्पन्न हुआ।

पूज्य आचार्यचरण के द्वारा रचित **'अरुन्धती महाकाव्य' का समर्पण** समारोह दिनांक ७ जुलाई ९४ को भारत के राष्ट्रपति महामहिम डॉ० शंकरदयाल शर्मा जी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसी प्रकार आचार्यचरणों ने एकादश उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर रामानन्दीय श्रीवैष्णव सिद्धान्तानुसार भाष्य लेखन सम्पन्न करके विशिष्टाद्वैत अपनी श्रुतिसम्मत जगद्गुरुत्व को प्रमाणित करके इस शताब्दी का कीर्तिमान स्थापित किया है।

आप विदेशों में भी भारतीय संस्कृति का विश्वविश्रुत ध्वज फहराते हुए सजगता एवं जागरूकता से भारतीयधर्माचार्यों का कुशल प्रतिनिधित्व करते हैं।

आचार्यश्री के प्रकाशित ग्रन्थ

१. मुकुन्दस्मरणम् (संस्कृत स्तोत्र काव्य) भाग–१–२
२. भरत महिमा
३. मानस में तापस प्रसंग
४. परम बड़भागी जटायु
५. काका बिदुर (हिन्दी खण्ड काव्य)
६. माँ शबरी (हिन्दी खण्ड काव्य)
७. जानकी-कृपा कटाक्ष (संस्कृत स्तोत्र काव्य)
८. सुग्रीव की कुचाल और विभीषण की करतूत
९. अरुन्धती (हिन्दी महाकाव्य)
१०. राघव गीत-गुञ्जन (गीत काव्य)
११. भक्ति-गीता सुधा (गीत काव्य)
१२. श्री गीता तात्पर्य (दर्शन ग्रन्थ)
१३. तुलसी साहित्य में कृष्ण-कथा (समीक्षात्मक ग्रन्थ)
१४. सनातन धर्म विग्रह-स्वरूपा गौ माता
१५. मानस में सुमित्रा
१६. भक्ति गीत सुधा (गीत काव्य)
१७. श्रीनारदभक्तिसूत्रेषु राघवकृपाभाष्यम् (हिन्दी अनुवाद सहित)
१८. श्री हनुमान चालीसा (महावीरी व्याख्या)
१९. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
२०. आजादचन्द्रशेखरचरितम् (खण्डकाव्य) संस्कृत
२१. प्रभु करि कृपा पाँवरि दीन्ही
२२. राघवाभ्युदयम् (संस्कृत नाटक)

आचार्यश्री के शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१. हनुमत्कौतुक (हिन्दी खण्ड काव्य)
२. संस्कृत शतकावली (क) आर्याशतकम् (ख) सीताशतकम्
(ग) राघवेन्द्रशतकम् (घ) मन्मथारिशतकम् (ङ) चण्डिशतकम्
(च) गणपतिशतकम् (छ) चित्रकूटशतकम् (ज) राघवचरणचिह्नशतकम्
३. गंगामहिम्नस्तोत्रम् (संस्कृत)
४. संस्कृत गीत कुसुमाञ्जलि
५. संस्कृत प्रार्थनाञ्जलि
६. कवित्त भाण्डागारम् (हिन्दी)

●

।। श्रीराघवो विजयतेतराम् ।।

आचार्यचरणानां बिरुदावली

नीलाम्बुजश्यामलाकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ।।
रामानन्दाचार्यं मन्दाकिनीविमलसलिलासिक्तम् ।
तुलसीपीठाधीश्वरदेवं जगद्गुरुं वन्दे ।।

श्रीमद् सीतारामपादपद्मपरागमकरन्दमधुव्रतश्रीसम्प्रदायप्रवर्तकसकलशास्त्रार्थ-महार्णवमन्दरमतिश्रीमदाद्यजगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यचरणारविन्दचञ्चरीकः समस्त-वैष्णवालंकारभूताः आर्षवाङ्मयनिगमागमपुराणेतिहाससन्निहितगम्भीरतत्वान्वेषण-तत्पराः पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणाः सांख्ययोगन्यायवैशेषिकपूर्वमीमांसावेदान्तनारद-शाण्डिल्यभक्तिसूत्रगीतावाल्मीकीयरामायणः भागवतादिसिद्धान्तबोधपुरःसरसमधि-कृताशेषतुलसीदाससाहित्य-सौहित्यस्वाध्यायप्रवचनव्याख्यानपरमप्रवीणाः सनातनधर्म-संरक्षणधुरीणाः चतुराश्रमचातुर्वर्ण्यमर्यादासंरक्षणविचक्षणाः अनाद्यविच्छिन्नसद्गुरु-परम्पराप्राप्तश्रीमद्सीतारामभक्तिभागीरथीविगाहनविमलीकृतमानसाः श्रीमद्रामचरित-मानसराजमरालाः सततं शिशुरूपराघवलालनतत्पराः समस्तप्राच्यप्रतीच्यविद्या-विनोदितविपश्चितः राष्ट्रभाषागीर्वाणगिरामहाकवयः विद्वन्मूर्धन्याः श्रीमद्रामप्रेम-साधनधनधन्याः शास्त्रार्थरसिकशिरोमणयः विशिष्टाद्वैतवादानुवर्तिनः परमहंस-परिव्राजकाचार्यत्रिदण्डी वर्याः श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाः प्रस्थानत्रयीभाष्यकाराः श्रीचित्रकूटस्थ-मन्दाकिनीविमलपुलिननिवासिनः श्रीतुलसीपीठाधीश्वराः श्रीमद्जगद्गुरु स्वामी रामानन्दाचार्याः अनन्तश्रीसमलंकृतश्रीश्रीरामभद्राचार्यमहाराजाः विजयतेतराम् ।

।। श्रीराघवः शन्तनोतु ।।

•

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः ।।

ईशावास्योपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-कवितार्किकचूडामणि-वाचस्पति-जगद्गुरुरामानन्दाचार्य-स्वामि-रामभद्राचार्य-प्रणीतं, श्रीमज्जगद्गुरु-रामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि-विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकश्रीराघवकृपाभाष्यम् ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।
।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

ईशावास्योपनिषदि
श्रीराघवकृपाभाष्यम्

।। मंगलाचरणम् ।।

कौसल्यास्तनपानलालसमना मन्दस्मितोऽव्यक्तवाक्,
एकं ब्रह्मगुडालकाव्रतमुखाम्भोजो घनश्यामलः ।
खेलन् पङ्क्तिरथाजिरे रघुपतिर्बालानुजैः सुन्दरो,
देवो धूलिविधूसरो विजयते रामो मुकुन्दः शिशुः ।। १ ।।

मन्दाकिनीवीचिनिबद्धदृष्टिम्,
सीतामुखाम्भोरुहभृङ्गचित्तम् ।
सलक्ष्मणं बाणधनुर्दधानम्,
रामं श्रये संश्रितचित्रकूटम् ।। २ ।।

ध्वस्तध्वान्तोऽस्मि लब्धार्थो यत्कृपामिहिरत्विषा ।
रामानन्दमहं वन्दे स्वाचार्यं तं जगद्गुरुम् ।। ३ ।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं, नत्वा श्रीवैष्णवानहम् ।
ईशावास्योपनिषदः, भाषे सीतापतेर्मुदे ।। ४ ।।

"श्रीमद्राघवो विजयते"
"श्री रामानन्दाचार्याय नमः"

ईशावास्योपनिषदि

श्रीराघवकृपाभाष्यम्

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

प्रस्तावभाष्यम्

श्रीसीतासमलङ्कृतवामभागः श्रीभरतलक्ष्मणशत्रुघ्नवायुपुत्रप्रभृतिपरमानुरक्त-परिकरपरिचरितपतितपावनपादपद्मः समस्तकल्याणगुणगणनिलयः सजलघनश्यामो लोकाभिरामः श्रीरामः नित्यषडैश्वर्यसम्पन्नः सकललोकातीते श्रीसाकेते निरन्तरं विराजते । स एव भक्तवत्सलो भगवान् प्रपन्नानुग्रहकातरः वैदिकधर्मसंरक्षार्थं मर्त्यान् निजचरणारविन्दप्रेममकरन्दरूपभक्तिसुधां पाययितुं प्रतिकल्पं सप्तमे मन्वन्तरे चतुर्विंशतितमे त्रेतायां भौमसाकेतापरनामधेयश्रीमदयोध्यायां दशरथयागापूर्वः कौशल्यायां परिपूर्णः सन् समवतरति । स एव जानकीवल्लभो निजचरित्रेण चातुर्वर्ण्यमर्यादामपि मण्डयति । वैदिकधर्मस्य चातुर्वर्ण्यमर्यादामयत्वात् । तस्यैव भगवतो महाविष्णोः श्रीरामस्य निःश्वासरूपेषु चतुर्षु वेदेष्वन्यतमोऽयं कर्मकाण्डप्रायो यजुर्वेदः । यस्य वाजसनेय-माध्यन्दिनीशाखान्तर्गतसंहितायाः सन्ति चत्वारिंशदध्यायाः । अस्या एव संहितायाश्चरमोऽध्यायश्चत्वारिंशः, यः खलु ईशावास्योपनिषन्नाम्ना ख्यातिमगात् । एतत्-प्रथममन्त्रः 'ईशावास्य' शब्देन प्रारभते अत इमं सम्पूर्णमध्यायमीशावास्योपनिषदिति व्यवहरन्ति । यद्यपि सर्वाः श्रुतयः परम्परया वा साक्षाद् वा परमात्मानं परमेश्वरं निजप्राणवल्लभता समध्यवस्यन्ति, तथापि अन्तरङ्गतया साक्षात्सम्बन्धेन परमेश्वरं समभिदधानः श्रुतिसमूहः उपनिषद् शब्दवाच्यो भवति । उप नि पूर्वक सद्लृधातोः कर्तरि क्विप् । अयं खलु ज्ञानप्रायो भवति, ज्ञानगम्यपरमात्मनः साक्षात्प्रतिपादकत्वात् । अनेकासूपनिषत्सु विद्यमानासु सर्वप्रथमतया ईशावास्योपनिषदेव गण्यते, एतामेवाहं श्रीराघवकृपाबलः श्रीराघवकृपानामभाष्येण विभूषयितुं यते । सत्स्वपि पूर्वाचार्यैः प्रणीतेषु भाष्येषु मयापि विशिष्टाद्वैतवादानुसारं श्रीसीतारामप्रीतये एषा व्याचिकीर्ष्यते ।

प्रत्येकमुपनिषदः प्रारम्भे लोककल्याणकामः ऋषिः शान्तिपाठं पठति । सैव परम्परा इहापि ज्ञेया, **ॐ पूर्णमदः** इत्यादि । ॐ इति परब्रह्मवाचकम् । एकाक्षरं ब्रह्म समस्त श्रुतिभ्यः प्रागुक्तं परममङ्गलम् पुराणमतेन ब्रह्मणः कण्ठं भित्वा प्रथममुच्चरित्तम् । प्रणवोऽयं भगवतापि प्रणूयमानत्वात् । एतद् व्याख्यानभूता निखिलमाण्डूक्योपनिषद् । एतस्यैव अकारं विराट् , उकारं हिरण्यगर्भः, मकारं प्राज्ञः, **तुरीयमानाञ्च तुरीयमधितिष्ठति** । पौराणिकाः अकारे, विष्णोः उकारे ब्रह्मणः मकारे शिवस्य, अर्धमात्रायां महाविष्णोर्ध्यानमामनन्ति । दार्शनिकाः अत्रैव वर्णत्रये तिसृणां वृत्तीनां समाहारं मन्यन्ते । वैदिका अस्मिन्नेव वेदत्रयीं, केचन त्रिभुवनं, केचन त्रिदैवतं प्राहुः । इदं विवरणमेतस्य व्यस्ततापक्षानुरोधेन । वस्तुतस्तु समस्ततापक्ष एव पारमार्थिकः ॐकारस्य । अस्मिन् पक्षे अयम् ॐकारः प्राकृतगुणवर्जितं सकलभक्ताह्लादकदिव्यचिन्मयाचिन्त्यगुणगणसागरं परब्रह्मपरमेश्वरं सीताभिरामं श्रीराममेवाभिधत्ते । तथा चाह महिम्नस्तोत्रे पुष्पदन्ताचार्यः—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धामध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः,
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमितिपदम् ।।

(शिवमहिम्नस्तोत्र-२८)

भगवान् पाणिनिरपि ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म अखण्डम् एकमेव मत्वा समस्तपक्षतः वाक्यस्फोटविधया व्याचष्टे । ॐ इति **अव्** धातोः, **अवतेर्डोम्** इति औणादिकसूत्रेण, **डोम्** प्रत्ययं कृत्वा डित्वसामर्थ्यात् **भ** संज्ञामन्तरेणापि **अव्** धातुघटकवकार लोपं विधाय ॐ इति शब्दं साधयन् **अव्** धातोः ऊनविंशतिम् अर्थान् कण्ठतः समभिदधानः ॐ इत्यस्य सगुणब्रह्मवाच्यतामेव व्याहरति दाक्षिपुत्रः—

भगवद्भक्तिरसास्वादनार्थं जनानामपि ॐ इत्यस्मिन् श्रद्धाविवर्धयिषया निजानन्दाय च इह पाणिनीयधात्वर्थानुरोधेन ॐ शब्दस्य व्युत्पत्तिवैचित्र्यमाधुरी प्रस्तूयत्ते । यया मनः अनायासं ॐ शब्दवाच्यसकलवेदतात्पर्यसीताललामश्रीराम एव रमताम् । पाणिनिः **अव्** धातोः एकोनविंशत्यर्थान् प्राहः, अतस्त्द् धातुनिष्पन्नस्य ॐ शब्दस्य त एवार्थाः यथाक्रमं संगमयिष्यन्ते, तथा हि—

अवति, स्वभक्तान् रक्षतीति ॐ । भक्तरक्षणकर्त्ता भगवान् रामः इति भावः । अवति, जनप्रेमवशंवदः तत्समीपं गच्छतीति ॐ । **तदेजति तन्नैजति** इति श्रुतेः ।

अवति, कान्तिमान् भवति सनकादिमुनीन्द्रणामपि मनोनयनहारकत्वात्। **स उ श्रेयान् भवति जायमानः** इति श्रुतेः। अवति, प्रपन्नेषु प्रेम करोति इति ॐ। भगवान् भक्तेषु अहैतुकीं प्रीतिमाचरति स्वभावतः। **ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाम्यहम्** (गीता ४-११) इति स्मृतेः। अवति, तृप्यति भक्तानां निष्किञ्चनभक्तिभावनया तृप्तो भवति इति ॐ। भगवतः भक्तितृप्तेः श्रीरामायणादौ बहुधा स्फुटचर्चा वर्तते। अवति, जानाति निजभक्तमनोरथान् चराचरजीवजातं वा यः सः ॐ। भगवतो निजभक्तमनोरथज्ञत्वं श्रीरामायणे अहल्योद्धरणनिषादमैत्रिजटायुशबरीगतिदानादिप्रकरणेषु श्रीभारते द्रौपदीविदुरचन्द्रहासप्रभृतिमहाभागवताख्यानेषु सुस्फुटं विभ्राजते सर्वज्ञताञ्च **यः सर्वज्ञः सर्ववित्** (मुण्डक १/१/९) इति श्रुतिरपि गायति। अवति भक्तानामन्तःकरणं प्रविषति इति ॐ, **तदन्तरस्य सर्वस्य** इति श्रुतेः। भगवान् भक्तभावनियन्त्रितः भक्तानां मनांसि प्रविशति, किं बहुना कृष्णालज्जाकातरः सन् तस्याः आर्तवजन्यामशुचिताम-विगणय्य तद्वस्त्रमपि प्रविशन् ॐकारस्य प्रवेशरूपार्थं सुस्पष्टमचिख्यपत्। तथा च भारते—

कृष्णं च विष्णुञ्च हरिं नरं च, त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितोमहात्मा समावृणोद् वै विविधैश्च वस्त्रैः॥

(महाभारत सभापर्व ६७-४६)

धर्मः भगवान् कृष्णः अन्तरितः वस्त्रे तिरोहितः इति भावः। इममेव ॐकारार्थमूलं भगवत्प्रवेशावतारमामनन्ति भागवताः। अवति, शृणोति आर्तजनानां करूणक्रन्दनानि यः स ॐ। भगवान् राघवः माधवश्च। **स शृणोत्यकर्णः** इति श्रुतेः। रामायण-महाभारतयोस्तु सहस्राधिकाः गाथा उज्जृम्भन्ते यासु भगवतः भक्तविलपनश्रवणं स्पष्टं विलोक्यते। अवति, सर्वत्र स्वामित्वं स्थापयति इत्योम्। भगवान् एव सर्वेषां स्वामी सर्वान्तर्यामी निजैश्वर्येण निखिलचराचरं शास्ति '**सर्वस्येशानः**' '**सर्वस्यवशी**' इतिश्रुतेः, **यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः** इति स्मृतेः (गीता १५-१७)। अवति, सर्वं करोति इत्योम्। भगवानेव भक्तानां योगक्षेमं तनुते **योगक्षेमं वहाम्यहम्** इति स्मृतेः। अवति, इच्छति निजभक्तन् लालयितुमवतारं ग्रहीतुं स्रष्टुं चाशेषं जगत् इत्योम्। भगवान् निजभक्तानन्दार्थम् अवतर्तुं समीहते जगत् च निजेच्छयैव सृजति। ननु भगवदिच्छायां किं विनिगमकम्? इति चेत्, सो अकामयत् **एकोऽहं बहुस्यां प्रजायै** इति श्रुतिरेव परमप्रमाणत्वेन गृहाण। **स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि** इति भागवतवचनमपि स्मर्यताम्। **निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार** इति मानसमपि विनिगमय। अवति, दीप्यते इत्योम्। भगवान् कोटिसूर्यसमप्रकाशः

समुद्भासतस्वजनहृदयाकाशे विचकास्ति । श्रीमद्भगवद्गीतायामपि सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रति प्राह—

दिवि सूर्य सहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्यात् भासस्तस्य महात्मनः ।।

(गीता ११-१२)

अवति, आलिङ्गति सगुणसाकारः सन् निजभक्तान् यः स ॐ । परमात्मा निजभक्तभावनापरिपालनाय तान् आलिङ्गति तैरालिङ्ग्यते च **तदन्तरस्य सर्वस्य तत्सर्वस्यास्य बाह्यतः** इति ईशावास्यश्रुतिरेव मानम् । नहि आलिङ्गनविषयत्वमन्तरेण कस्यापि अन्तःस्थातुं शक्नोति भगवान् न वा आलिङ्गनकतृत्वमन्तरेण बाह्यतः कस्यचित् स्थातुं शक्यते **अपाणिपादौ जवनो ग्रहीता** इति श्रुतिरपि मानम् । वेदार्थोपबृंहणतया इतिहासपुराणमपि प्रमाणम् ।

इतिहापुराणासभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुतात्वेदो मामसौ प्रहरिष्यति ।।

इति वचनात् । पुराणानां वेदत्वमपि वेदव्यासःस्वीचकार । **इतिहासःपुराणञ्च पञ्चमो वेद उच्यते** इति वचनबलात् इतिहासपुराणयोर्वेदत्वस्वीकारे तयोः बहुत्र घटनासु भगवतो भक्तालिङ्गनचर्चाः दृश्यन्ते । श्री बाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे गृहीतसीता-समाचारं लाङ्गूलदीपितदशमुखपुरं लंकातः प्रत्यागतं निजचरणकमलयोर्नमन्तं हनुमन्तं प्रति प्राह परब्रह्मभगवान् रामः—

एष सर्वस्वभूतो मे परष्वङ्गो हनूमतः ।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तो ह्यस्य महात्मनः ।।

(वा.रा. ६/१/१३)

अवति, आदत्ते भक्तोपहृतं पत्रपुष्पफलजलं स्वीकरोति सगुणसाकारविग्रहः सन् यः स ॐ । **अपाणिपादोजवनो गृहीता** इति श्रुतिरेव मानम् ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

(गीता ९/२६)

एवमेव अवति, भक्तानां दोषमपि आदत्ते इति ॐ । अवति, भक्तपापानि हिनस्ति इत्योम् । भगवान् निजचरणकमलं भजताम् अन्तःकरणस्थः तेषां विकर्माणि विधुनोति **अपहृत पाप्मा** इति श्रुतेः,

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद् धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः ।।

(श्रीमद्भागवत ११/५!४२)

इति भागवतोक्तेः । अवति, विभजति इत्योम् । परमात्मा हि प्रतिशरीरम् अन्तर्यामितया विभागशः समधितिष्ठति । बृहदारण्यके अन्तर्यामिप्रकरणे गीतायाश्च अष्टादशस्य एकषष्ठितमे बीजम् एतस्य सिद्धान्तस्य । अवति, वर्धते वर्धयति च निजभृत्यान् इति ॐ । **बृंहणात् ब्रह्म बृहत्वाच्च ब्रह्म** इति निरूक्तेः **अगोरणीयान् महतो महीयान्** इति श्रुतेः । वामनावतारे परमात्मनो विराटरूपप्रकटीकरणे वृद्धेः पुराणप्रसिद्धिरपि प्रमाणम् ।

इत्थं पाणिनिनिर्दिष्टावतेरर्थानुसारतः ।
ऊनविंशति व्युत्पत्तीरोङ्कारस्य प्रदर्शिता ।।

अधुना शान्तिपाठो व्याख्यायते—ॐ पूर्णमद इत्यादि । अदः पूर्णम् इदं पूर्णम् पूर्णात् पूर्णम् उदच्यते, पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णम् एव अवशिष्यते इत्यन्वयप्रकारः ।

ईशावास्योपनिषदः प्रारम्भे त्रिविधतापशान्तिम् कामयमाना श्रुतिः वेदान्तवेद्य-परब्रह्ममहिमवर्णनव्याजेन शान्तिं पठति । अदः अवाङ्मनसगोचरं निर्लीनगुणकं ब्रह्म पूर्णम् परिपूर्णैश्वर्यं तस्मिन् न कापि न्यूनता । **सर्वरसः सर्वगन्धः** इत्यादि श्रुतेः । इदम्, निजभक्तनयनगोचरं समस्तकल्याणगुणाभिरामं रामाभिधानं सगुणब्रह्म पूर्णम् । षडैश्वर्यसम्पन्नं परिपूर्णकाममिति भावः, द्वे इमे रूपे निर्गुणं सगुणं चेति श्रुतेरपि ब्रह्मणो द्वैरूप्यं निश्चीयते । अथ द्वयोः ब्रह्मरूपयोः पूर्णतायां निश्चितायामुपासकानां साधनक्रमे कतरस्मात् कतरत् ज्यायः इति चेत्, इदं पदवाच्यं सगुणब्रह्म उदच्यते उत्कृष्टतया पूज्यते । अञ्चोः पूजार्थकत्वस्यापि पाणिनिसम्मतत्वात् । "**अञ्चु गतिपूजनयोः**" इति भा. १८८ धातु पाठः । तस्यैव निर्गुणापेक्षया श्रेष्ठस्य सगुणब्रह्मणः । पूर्णस्य पूर्णम् अखण्डैश्वर्यकृपाप्रसादम् आदाय सादरं गृहीत्वा पूर्णम् इदं जीवजातम् परिपूर्णकामम् अवशिष्यते अवशिष्टं भवति कालेनापि न खाद्यते "**प्रलये न व्यथन्ति च**" इति गीतोक्तेः । एव, अत्र एवकारः क्रियायामन्वेत्ति अत्यन्तायोगम् व्यवच्छिनत्ति। लब्धभगवत्कृपाप्रसादः कदापि नापूर्णतां गच्छतीति ध्वनितम् । इह केचन अदः शब्देन परब्रह्म इदम् शब्देन च जीवजातम् तात्पर्यीकृत्य व्याचिकीर्षन्तः पूर्णात् ब्रह्मणः पूर्णम् जगत् उदच्यते निर्गच्छति पूर्णस्य ब्रह्मणः पूर्णम् समग्रैश्वर्यम् आदाय इदं जीवजातं पूर्णं परिपूर्णतमम् अवशिष्यते इति द्रविड़ प्राणायामेन प्रलपन्ति । इदम् व्याख्यानं हि

पीतिमरोगग्रस्तजनस्य चन्द्रमसि पीतत्वप्रतीतिरिव अप्रमाणम्, जीवस्य पूर्णतायाः अनुपपत्तिः । पूर्णमुदच्यते इत्यत्र उदच्यते इति क्रियातः निर्गत निर्गच्छति इति अर्थस्यापि आकाशतः पुष्पस्येव स्फोटनासंभवात् । नाहि कर्मवाच्यप्रयुक्तमुदच्यते इति पदम् निर्गमनानुकूलव्यपारबोधं कारयितुं शक्नोति तस्य कतृवाच्यत्वात् । नहि अल्पसत्तो जीवः अंशिनः परमात्मनः समस्तैश्वर्यमादातुं शक्नोति, कथमहो अनन्तयोजनविस्तीर्णो मरीचिमालिमार्तण्डः लघुनि चक्षुर्गोलके मातुं शक्नोति, तस्मात् व्याख्यानमेतत् दुराग्रहग्रहिलचेतःप्रसूततया नादरणीयम् । एवं हि निर्गुणापेक्षया सगुणब्रह्मश्रेष्ठतां भगवती गीतापि समर्थयति विशेषस्तु तत्रैव द्वादशध्यायपूर्वार्धे द्रष्टव्यम्, ग्रन्थगौरवभिया तदिह न प्रपञ्च्यते तुष्यन्तु विपश्चितः ।।श्रीः।।

''श्री राघवः शन्तनोतु''

ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।१।।

अथ शुक्लयजुर्वेदान्तर्गतवाजसनेयिमाध्यान्दिनीशाखायाश्चत्वारिंशत्तमाध्यायस्य यथा सम्प्रदायं श्रीराघवकृपानाम्ना भाष्यं भाष्यते । तत्र शुक्लयजुर्वेदस्य ऊनचत्वारिंशदध्यायेषु कर्मकाण्डीयसिद्धान्तानां प्रतिपादनं वर्तते । अस्मिन् चरमेऽध्याये ज्ञानसिद्धान्तनिरूपणम् । अतो हेतोः इदम् उपनिषत् शब्देन व्यवह्रियते । सर्वाः श्रुतयः भगवतः पत्न्यः । यथा कस्यचित् वल्लभस्य बह्वीषु पत्नीषु काश्चन बहिरङ्गतया सेवन्ते काश्चनान्तरङ्गतया परिचरन्ति तथैव श्रुतिष्वपि कर्मकाण्डोपासनाकाण्डीयाः श्रुतयः तत्तद्देवोपासनावर्णनव्याजेन परम्परया परमेश्वरं परिचरन्ति, परञ्च ज्ञानकाण्डीयाः परमान्तरङ्गपत्न्य इव साक्षात्परमात्मानं समभिगृणते । तेनैता उपनिषद इत्युच्यन्ते, उप समीपं निषीदति इति उपनिषद् । उप श्लिष्य निषीदति इति वा । साक्षात्भगवत्तात्पर्यप्रतिपादनेन आस्वेव उपनिषण्णत्वम् । एतासु अन्यतमेयम् ईशावास्योपनिषत् । संहिताभागीयत्वात् प्रथमेयं सर्वाधिकं महत्त्वम् आकलयन्ती विराजते वेदान्तदर्शनशिखेव । एतत्प्रथममन्त्रस्य ईशावास्यशब्देन प्रारम्भात् तन्नाम्नैव प्रसिद्धैषा ।

जगत्याम् यत् किम् च जगत् इदम् सर्वम् ईशावास्यम् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः कस्य स्विद् धनम् मा गृधाः इत्यन्वयः । जगत्यां पृथिव्यां किञ्च यत्किमपि आधेयतया वर्तमानं चिदचिदात्मकं जगत् । जायते इति जम् गच्छत्ति इति गत् जेन स्थावरेण सहितं गत् जङ्गमम् इति जगत्, स्थावरजगङ्गमित्यर्थः । इदम् अस्मदादिदृग्गोचरं सर्वं निखिलम् । ईष्टे इति ईशः, **ईश्** धातोः पचाद्यच्, ईशेन सकललोकशासकेन

श्रीरामाभिधेन परमात्मना आवास्यम् आच्छादितम् । अत्र आङ् पूर्वक ण्यन्त **वस्** धातोः निवासार्थकात् भूतकाले कर्मणि निष्ठार्थे ण्यत् प्रत्ययः । ईशेन आवास्यम् ईशावास्यम्, इति तृतीयातत्पुरूषसमासः । यत्तु केचन ईष्टे इति ईट् तेन ईशा, आवास्यम् इति क्विप् प्रत्ययान्ततया ईट् शब्देन ईशा इति तृतीयान्तं व्याचक्षते तदनुचितम्, क्विवन्तस्य ईट् शब्दस्य कुत्रापि प्रयोगाभावात् अनभिधानात् च । अजन्त **ईश** शब्द एव आवास्य शब्देन सह समस्तः सुधीविचारसहः । यदपि आवास्यमित्यस्य आच्छादनीयम् इति व्याकुर्वन्ति तदपि प्रसङ्गानुपयुक्तत्वात् उपेक्ष्यम् । नहि जगदिदं परमात्मनाच्छादनीयम् अपितु आसर्गतः समाच्छादितम् । न च ण्यत् प्रत्ययः भविष्यत्काल एव इति वाच्यम्, बहुलम् छन्दसि (पा. सूत्र ३-२-८८) इत्यनेन भूतकालेऽपि तस्य सुवचत्वात् । **यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः**'' इति स्मृतेश्च । ननु आत्मपरमात्नोरभेदधिया ईशा स्वेन प्रत्ययगात्मना त्वदभिन्नेन इदम् आच्छादनीयम् इत्याभिप्रायेण तल्लेखे न दोषः इति चेन्न, आत्मपरमात्मनोरभेदस्य सर्वसम्मतत्वाभावग्रस्तत्वात् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः इति एतच्छ्रुतेरुत्तरार्धेन आत्मभिन्न-परमात्माभिलापसङ्केताच्च अन्यथा स्वेन इति ब्रूयात् । पूर्वार्धफलितार्थस्तु अस्मिन् जीवलोके यत्किमपि जडचेतनदृश्यमानं तदिदं सर्वम् ईश्वरेण स्वमहिम्ना आच्छज्ञदितं व्याप्तम्, नहि एकोऽणुरपि ईश्वरसत्तातो बहिभूर्तः । **पादोस्यविश्वाभूतानि** इति श्रुतेः **मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना** गीता ९-४ इति स्मृतेश्च । तेन, येन परमात्मना एतच्चराचरं जगद्व्याप्तं तेनैव कर्तृभूतेन ईशेन इत्यर्थः । नित्यसापेक्ष्यत्वात् तृतीयान्ततया आवास्य शब्देन समस्तस्यापि ईशशब्दस्य तृतीयान्ततच्छब्देन परामर्शः । त्यक्तेन, अतिसृष्टेन दत्तेन इति यावत् ईश्वरेण दात्रा प्रदत्तेन करणभूतेन भोग्यपदार्थेनैव । भुञ्जीथाः भोगं कुर्वीथाः । यत्तु भुञ्जीथाः इत्यस्य पालयेथाः इत्यर्थो व्याख्यायते तदशास्त्रीयम् । **भुजोऽनवने** (पा. सूत्र १-३-६६) इति सूत्रेण अवनभिन्नार्थादेव **भुज्** धातोः आत्मनेपदविधानात् । **भुज् पालनाभ्यवहारयोः** पा. धातु पाठ १४५४ रूधादि । इति पाणिनीयानुशासनेन **भुज्** धातोः द्वयोरर्थयोः सतोः पालनभिन्नस्य अभ्यवहाररूपार्थस्येव द्योतकमिदम् आत्मनेपदम् । पालनरूपार्थस्य प्रकरणविरूद्धत्वं स्पष्टमेव, का आवश्यकतात्र पालनरूपविधेयस्य अङ्गित्वेन त्यक्तेन इति पदं प्रयोक्तुम् । केचन तेन इत्यनेन ईशावास्य घटकं तृतीयान्तमीशशब्दं परामृश्य तेन ईशेन सह वर्तमानः त्वं, त्यक्तेन त्यागबुद्ध्या भुञ्जीथाः इति अव्याहारविडम्बनया व्याचक्षते, तदपि अस्वारसिकम् । सहार्थस्य कल्पनागौरवं **त्यज्** धातोः अस्वाभाविकी-भावेनिष्ठाप्रत्ययकल्पना च । केचन तेन इत्यस्य तेन हेतुना इत्यध्याहृत्य व्याख्यानं मन्यन्ते, त्यक्तशब्दञ्च त्यागपर्यायं स्वीकुर्वन्ति, तदपि अननुरूपम् । सर्वनामानि हि निसर्गतः पूर्वचर्चितमेव अभिधेयं परामृशन्ति, तस्मात्

तेनेति शब्देन **ईशावास्य** घटकईशेन इति तृतीयान्तशब्द एव परामर्शणीयः । त्यक्तेन इत्यस्य दत्तेन इत्येवार्थः करणीयः । त्यज् अतिसर्जने इति हि धातुः **''अतिसर्जनं चात्रदानम्''** **''त्यजमनाक्च नस्त्वत्स्पृहात्मनाम्''**। १०-३१-१८ इति भागवतवचनाच्च । कस्य स्विद्, कस्यचिद्, स्विद्छब्दश्चिदर्थः नैवानर्थकनिपातः श्रुतौ प्रत्येकाक्षरस्य निगूढार्थकत्वात् धनम्, द्रव्यम् । मा गृधाः, मा लोभविषयं कुरू, गृद्धवत् मा लुब्धो भूः । भगवता यद्दत्तं तेनैव जीविकासाधनेन जगतीतले भगवत्प्रसादबुद्धया भोगं कुरूष्व । भगवद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदपि धने मा लुब्धो भव इति सरलार्थः । यद्वा **क** शब्दः सृष्टिकर्तृचतुराननवाचकः अर्थात् भगवता दत्तेनैव धनेन प्रारब्धगतेन भुञ्जीथाः स्वकीयजीविकां चालय ततो व्यतिरिक्तय कस्य चतुराननब्रह्मणोऽपि धनं मा गृधाः । अत्र स्विद् शब्दः अप्यर्थः । केचन मा गृधः इति पृथक् मत्वा धनं कस्यस्विद् इति आक्षेपार्थकतया व्याचक्षते, तदपि वाक्यभेदकल्पनागौरवात् नादरास्पदम् । **सम्भवत्त्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युज्यते** इति नियमात् ।

चराचरं पूरितमीश्वरेण मत्वा प्रसादं तदुपाहृतेन भुंक्ष्वेह मा भूः परवित्तगृध्नुः वेदार्थ एषः प्रथमश्रुतेर्वै ।। श्रीः ।।

ईशावास्योपनिषदः सर्वेऽपि मन्त्राः न केवलज्ञानप्रतिपादकाः श्रुतयोः हि **विश्वतोमुखाः** तासु प्राणिनां प्रत्येकसमस्यायाः समाधानं सन्निहितम् । अतः अस्या उपनिषदः प्रथममन्त्रेण भगवत्प्रदत्तवस्तुनः भोगाय विधिः परधनगृध्नुतायाश्च निषेधः । अथ द्वितीये मन्त्रे जीवनेच्छायाः नियमनाय श्रुतिः अनिच्छन्तं जीवं निर्दिशति,

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्येतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

कर्माणि कुर्वन् एव इह शतम् समाः जिजीविषेत् एवम् त्वयि नरे कर्म न लिप्यते इतः अन्यथा (पन्थाः) न अस्ति इत्यन्वयः । होत्रादीनि बलिवैश्वदेवप्रभृतीनि पञ्चयज्ञादीनि गार्हस्थ्यनिमित्तानि, शिलोञ्छादीनि तृतीयाश्रमानुवन्धीनि भैक्ष्यादीनि तुरीयाश्रमनिमित्तानि यथायथं स्वे स्वे चाश्रमे वर्तमानः नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तख्यानि कर्माणि, कुर्वन्, शास्त्रमर्यादया सम्पादयन् अत्र परस्मैपदप्रयोगस्तु भगवति कर्मफलसमर्पणसूचनाय । एव, अत्र क्रियान्विततया अयमेवकारः अत्यन्तायोगं व्यवच्छिनत्ति । इह, अस्मिन् जीवलोके शतम्, शतसंख्याः समाः, वर्षाणि यावत् अत्र **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (पा.सूत्र २-३-५) इत्यनेन द्वितीया । जिजीविषेत्, प्राणान् धारयितुम् इच्छेः । अत्र **व्यत्ययो बहुलम्** पा०अ० ३-१-८५, इत्यनेन सिबर्थे तिब्

व्यत्ययः । उत्तरार्धे त्वयि इति दर्शनात् । एवं लिप्यते इत्यत्रापि लृटि लङ् व्यत्ययः । अत्र सनन्त जीव् धातोः विधौ लिङ् लकारः । अस्मिंल्लोके शास्त्रविहितानि कर्माणि कुर्वन्नेव जीवितुमभिलषेः । अकर्मणस्य जिजीविषा भुवो भारायमाणैव जिजीविषेदित्यत्र विधौ लिङ् लकारदर्शनात् कर्मण्यस्यैव जिजीविषा विधीयते । ननु कोऽपि प्राणी कर्म विना क्षणमपि न तिष्ठति, तर्हि स्वतः सिद्धस्य कर्मणः करणविधानेन किमपूर्वत्वं, विधिर्हि अत्यन्ताप्राप्तौ, कर्म तु प्राणिनः स्वभावसिद्धत्वात् स्वतः प्राप्तम् अतः प्राप्ते कर्मणि श्रुतावस्यां विधेः किं बीजम् । यथा चाह गीतायां भगवाञ्छ्रीकृष्णः—

नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

(गीता ३/५)

इति चेदुच्यते, वेदो हि अज्ञातज्ञापकः स्वभावसिद्धकर्मणां ज्ञानाज्ञानाभ्यां प्रयोजनाभावत् तत्र विधिरकिञ्चित्कारः । यथा स्वतः सिद्धस्य भगीरथरथखातावछिन्न जलप्रवाहस्य सागराभिमुखस्य विधातापि विधिना निरोधं कर्तुं न प्रभवति । तस्मात् शास्त्रविधेः स्वाभाविक कर्माणि नैव क्षेत्राणि, विधिस्तु अपूर्वजननसामर्थ्यवद् वेदबोधित कर्मसु । एवमेव गीतायामपि तार्तीयके अकर्मकृद् इत्यस्य अस्वाभाविककर्मकृद् इत्येवार्थः फलितं चेदं ''यदि चेत् प्राणान् दिधारयिषेः तदा वेदविहितकर्माणि यथा शास्त्रं समनुतिष्ठन्नेव परमायुष्यं शतवर्षपर्यन्तं स्वस्थः सन् प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः परमात्मानं प्रीणयन् तिष्ठेः, शास्त्रविहितकर्माणि अकुर्वंस्तु म्रियेत एव इयानत्र श्रुतेरादेशः । भगवद्भक्तानां कृते कर्माणि परमेश्वरप्रसादनिमित्तानि तच्छ्रवणकीर्तनस्मरणपादसेवनसमर्चनवन्दनदास्य सख्यात्मनिवेदनप्रह्वीभावादीनि एवं पूर्वोक्तप्रकारेण शास्त्रीयाणि कर्माणि कुर्वति त्वयि कर्तरि, नरे, न रमते इति नरः तस्मिन् संसारे अनासक्त इति भावः । कुर्वन् इत्यत्र परस्मैपदमूलकशतृप्रत्ययः । परस्मैपदं हि अकर्तृगामिनिक्रियाफले एवं परमेश्वराय फलसमर्पणपुरःसरं कर्म कुर्वति जिजीविषति त्वयि जगत्यनासक्ते कर्म निष्कामं सत् न लिप्यते न लेपाय कल्प्स्यते । लिप्यते इत्यत्र **वर्तमनसामीप्ये वर्तमानवद्वा** (पा. सूत्र ३-३-१३१) इति सूत्रेण भविष्यत् कालार्थे वर्तमाने लट् । उत्तरार्धे त्वयि इति युष्मच्छब्दानुरोधेन पूर्वार्धे जिजीविषेः इति मध्यमपुरुषैकवचनबोधकार्थः **व्यत्ययोबहुलम्** (पा.सू. ३-१-८५) इति सूत्रेण जिजीविषेदिति प्रथमपुरूषैकवचनप्रयोगः । इतः अस्मात् अनासक्तभावेन भगवत्समर्पणपुरःसरं शास्त्रविहितकर्म कुर्वतः जिजीविषारूपात् मार्गात् अन्यथा, अन्येन प्रकारेण कोऽपि पन्थाः न अस्ति, न वर्तते ।

असक्तबुद्ध्या विहितं स्वकर्म,
जिजीविषेद्वर्षशतं प्रकुर्वन्,
न कर्मबन्धो भविता नरेऽन्यो,
मार्गोऽस्ति वेदार्थ इति द्वितीयः ।।श्रीः।।

पूर्वस्मिन् मन्त्रे क्रियमाणशास्त्रविहितकर्मण एव शतवर्षपर्यन्तं जिजीविषाधिकारः विधित्वेन प्रतिपादितः, अधुना क्रियमाणविकर्मणां अक्रियमाणकर्मणां च अधोगतिं प्रतिपादयत्ययं मन्त्रः—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।३।।

अन्धेन तमसा आबृताः ते लोकाः असुर्याः नाम (सन्ति) ये के च आत्महनः जनाः ते प्रेत्य तान् अभिगच्छन्ति इत्यन्वयः ।

अन्धयति जीवान् परमात्मचिन्तनदृष्टिहीनान् करोति, तेभ्यः सेवकसेव्यभावमूलकज्ञानं दूरीकरोति इत्यन्धम् तेन अन्धेन स्वरूपविस्मारकेन इत्यर्थः । तमसा, अन्धकारेण अज्ञानरूपेण आवृताः आच्छन्नाः ते तिस्मृतिपुराणेतिहासप्रसिद्धाः लोकाः कर्मफलपरिपाकभूताः नरकसम्बन्धिनः निष्कृष्टस्थानविशेषाः असुर्याः, असुषु प्राणेषु रमन्ते इत्यसुराः तेषां स्वे इत्यसुर्याः असुराणाम् आत्मीयभूता इति भावः, यद्वा सौ ब्रह्मणि रमन्ते इति सुराः न सुराः इति असुराः भगवद्भजनविमुखाः दानवाः तेषां स्वे इत्यसुर्याः । अत्र असुराणां स्वे इति लौकिकविग्रहे षष्ठयन्तात् असुरशब्दात् **असुरस्य स्वम्** (पा. सूत्र ४-४-१२३) इति सूत्रेण **य** प्रत्यये भत्वादकारलोपे विभक्तिकार्ये असुर्याः । केचन हठधर्मिणः दुराग्रहवशात् परमात्मनोऽद्वयभावमपेक्ष्य देवाः अपि असुराः इति विलिख्य देवानपि असुरसंज्ञया व्यवहर्तुं कुचेष्टन्ते तत् स्वपक्षपोषणार्थं मोघाडम्बरम् अमर्यादं च । देवाः खलु निरन्तरं सुराः तेषां सततब्रह्मरमणशीलत्वात् कादाचित्कपतनेन तत्रासुरत्वं नोपयुज्यते । तस्मात् भजनविमुखा आसुरीं सम्पदं श्रयन्तः देहात्मबुद्ध्य एवासुराः विप्रचितिपुलोममयादयः तेषां स्वभूताः लोकाः नारकाः असुर्याः । नाम, इति वाक्यालङ्कारे प्रसिद्धौ निश्चये च । तान् के यान्ति इत्यत् आह—ये, ये प्राणिनः केच, केचन इत्यर्थः **व्यत्ययो बहुलमित्यनेन** केचन घटकयोः अकारनकारयोर्लोपः, ये केचन प्रमादिनः न तु सर्वे इति भावः । आत्मानं भगवदंशभूतजीवात्मानं घ्नन्ति हिंसन्ति इत्यात्महनः भगवद्विमुखाः, हि विकर्मभिः स्वात्मानं हिंसन्ति । भगवद्विमुखवार्ता भगवत्प्रतिकूलाचरणं हि स्वात्महिंसनं यथोक्तम् निगमकल्पतरुगलितरसफलरूपे श्रीमद्भागवते—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।

(श्रीमद्भागवत ११/२०/१७)

उपबृहितं चैतत् अस्मत् प्रातःस्मरणीयपावनचरणैः श्रीगोस्वामितुलसीदासमहाराजैः श्रीमानसे—

नर तन भववारिधि कहँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

जे न तरहिं भवसागर, नर समाज अस पाय ।
तेऽकृत निन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाय ।।

(श्रीरामचरितमानस ७/४५)

जनाः, मानवाः यद्वा आत्महनोऽजनाः इत्यत्र अकारप्रश्लेशेण व्याख्यातव्यम् । आत्महनः अ जनाः इति हि विच्छेदः । जनाः भगवज्जनाः, तद्विरूद्धाः अजनाः भगवद्विमुखाः त एव आत्महनः तेषां कृते असुर्या लोका । ते, तथा भूता आत्मोद्धारासमर्थाः भगवद्विमुखतया स्वात्मघातिनः । प्रेत्य प्रारब्धक्षये इदं शरीरं त्यक्त्वा तान् पूर्वोक्तान् असुराणां लोकान् अभिगच्छन्ति यमदूतैः वेत्रैः अभिताड्यमानाः गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति । ँ (गुं) इति अनुस्वारस्य वैदिकोच्चरणम् ।

न ये भजन्त्यच्युतपादपल्लवम्,
हिंसन्ति चात्मानमसत्कृतैश्च ये,
असुर्यलोकान्प्रतियान्ति ते मृताः,
मनुतृतीयार्थमिमं विनिश्चिनु ।।श्रीः।।

ननु पूर्वस्मिन् मन्त्रे आत्महन् इत्युक्तं तत्र आत्महनने भगवच्चरणारविन्दविमुखतैव मुख्यकारणतया उक्ता, तत्र स भगवान् कीदृशः यच्चरणारविन्दमकरन्दनिषेवणेन अस्मादपारसंसारसागरात् स्वात्मानं समुद्धरेम ? यद्भजनविमुखा वा स्वात्मघातिनो भूत्वा असुर्यान् लोकान् आप्नुवन्ति ? इति जिज्ञासमानं प्रति भगवत्स्वरूपवर्णनेन तदेजदिति प्रस्तूयते चतुर्थमन्त्रः । केचन अस्मिन् मन्त्रे प्रत्ययागत्मस्वरूपवर्णनं मन्वते तत् अस्वारसिकत्वात् उपेक्ष्यम् एकस्मिन्नेव **अनेजत् मनसो जवीयः** इति अकम्प्यत्व–मनसोऽपिवेगवत्तरत्वयोः द्वयोः विरूद्धयोः धर्मयोः असम्भवात् एतन्मन्त्रस्य भगवन्महिमवर्णनतात्पर्यमेव ज्ञातव्यम्—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

तत् एकम् अनेजत् मनसः जवीयः, तत् पूर्वम् अर्षत्, देवाः एनत् न आप्नुवन्, तत् तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति, तस्मिन् (तिष्ठति सति) मातरिश्वा अपः दधाति, इत्यन्वयः ।

तत् वेदान्तवेद्यं परब्रह्माभिधानं परतत्वम् एकम्, सर्वथैवोपमानरहितम् । यद्वा अः वासुदेवः **अकारो वासुदेवः** इति श्रुतेः, तस्मिन् ए वासुदेवे कं सुखं यस्मात् तत् एकं वासुदेवस्य व्यूहस्यापि सुखकारणं महाविष्णुसंज्ञं श्रीरामाभिधानं परब्रह्म । एकमित्यत्र संज्ञात्वात् सप्ताभ्या अलुक कण्ठेकाल इतिवत् । न एजति न कम्पते इत्यनेजत्, एजृकम्पने इत्यस्य सत्रन्तम् अकम्प्यम् नैव केनापि द्वन्द्वधर्मेण चालयितुं शक्यमितिभावः । यद्वा, न एजति न कम्पते त्रिभुवनविजेतृरावणादिसंग्रामे यत् तत् अनेजत् । **श्रीराम राम रणकर्कश राम नाम** इति स्मरणात् । मनसः, संकल्पात्मकात् अन्तःकरणवृत्तिविशेषात् जवीयः जववत्तरम् अधिकवेगशाली इति यावत् । मनो हिं क्षणेन संकल्पावधिम् आश्रयते किन्तु परमात्मा तु ततोऽपि द्रुततरः गजेन्द्ररक्षणप्रसङ्गे भगवतस्त्वरां कीर्तयन्तः श्लोकमिमं गायन्ति भागवताः—

पर्यङ्कं विसृजन् गणा न गणयन् भूषामणिं विस्मरन् ,
उत्तानोऽपि गदा गदेति निगदन् पद्मामनालोकयन् ।
निर्गच्छन्न परिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु ,
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः ।।

तत् , परमात्मतत्वम् पूर्वम् प्रथमम्, अर्षत् मायापारमगच्छत् । अर्षदिति रिषगतौ इत्यस्य लङ्लकारे प्रथमपुरुषैकवचनरूपम् । यद्वा पूर्वम्, स्वभक्तकरूणक्रन्दनाह्वानसमाप्तेः पूर्वमेव तदुःखदूरीकरणचिकीर्षया तत्रागच्छत्, यथा भारते द्रौपदीचीरहरणप्रसङ्गे—

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितो भवत् ।
त्यक्त्वा शैय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् ।।

(महाभारत २/६८/४४)

यद्वा पूर्वम् , आर्तभक्तस्य आह्वानादपि पूर्वम् । अर्षत् , प्रकटमभवत् प्रह्लादस्याह्वानात्पूर्वमेव लौहस्तम्भे प्रकटयाम्बभूव । यथा श्रीभागवते —

सत्यं विधातु निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ।।

(श्रीमद्भागवत ७/८/१८)

देवा: ब्रह्मादयोऽपि, एनत् इदम्, न आप्नुवन् , न प्राप्तवन्त: इत्यनेन परमात्मनो दुराराध्यता प्रतिपादिता । तत्, परमात्मत्वम् तिष्ठत्, स्वधाम्नि व्यवस्थितं स्वस्वरूपादच्युतम् धावत:, तद् गृहीतुं समाधिबलेन धावनं कुर्वत: वा स्वाधिकारप्रदर्शनाय गतिशीलान् भवत: अन्यान् , सुरेन्द्रादिदेवान् अत्येति, अतिक्रामति । तृतीयचरणतात्पर्यं श्रीरामावतारे बाललीलायामपि सङ्गमनीयं भगवान् दशरथाजिरे बालस्वरूपमर्यादायां तिष्ठन् स्वाभाविकशिशुकेलौ विहरति परं कौशल्या धावन्ती स्वमतिक्रामन्तं राघवेन्द्रं न धर्तुं पारयति तथा मानसे जगौ तुलसीदास:—

निगम नेति शिव अन्त न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ।।

श्रीभागवतेऽप्युलूखलबन्धने धावन्ती यशोदा न धर्तुं सशाक भगवन्तं श्रीकृष्णम् । तस्मिन्, परमात्मनि वर्तमाने एव तस्यैव साक्षित्वे मातरिश्वा, वायु: मातरि आकाशे संचरति, स एव प्राणात्मको वायु: । अप:, जलानि अत्र अप शब्द: प्राणजातस्य जीवनसामग्राम् उपलक्षण: दधाति, पुष्पाति । अर्थात् परमात्मतत्वम् उपमारहितं न केनापि कम्पयितुं शक्यं, मनसोऽपि द्रुततरा गति: परमात्मन:, अयं पूर्वमेव मायागुणान् अत्यगच्छत् । इमं देवा अपि दुराराध्यतया प्राप्तुं नाशकन्, अयं परमात्मा कदापि स्वरूपत: च्युतो न भवति तथापि अन्येषां गतिशीलानां धावनम् अतिक्रामति । अस्मिनेव वर्तमाने एतस्य सत्तामाधारीकृत्य प्राणात्मकवायुदेवता सर्वेषाम् अपोरूपा प्राणशक्ति: पुष्णाति । अस्मिन् मन्त्रे परमात्मनो विरुद्धधर्मवर्णनेन सकलविरूद्धधर्माश्रयतां संसाध्य तन्महिमा निरूपित: ।

अकम्पमेकं जववत्तरं ह्यदो,
नेदं सुरा:प्रापुरिदं गुणातिगम् ।
अत्येति सर्वानपि धावतो बलात्
तस्मिन् हि वातो विदधाति जीवनम् ।।श्री:।।

तुर्यमन्त्रे परमात्मन: विरुद्धधर्माश्रयता उक्ता, भूयस्तमेव सिद्धान्तं द्रढयितुमभ्यसति, मन्त्राणां भगवन्महिमानुवर्णने आलस्याभावात् । तदेजतीत्यादि—

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।५।।

तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे तत् उ अन्तिके अस्य सर्वस्य, तत् अन्तः अस्य सर्वस्य तत् उ बाह्यतः इत्यन्वयः ।

परब्रह्म परमात्मा समस्तानां विरुद्धानां धर्माणाम् एककाल एवाश्रयः । अस्मिन् मन्त्रे परमात्मनः एजनानेजने दूरसमीपस्थिती अन्तर्बाह्यस्थिती चेति षट्धर्माःनिर्दिष्टाः । इमानि षड्वैशिष्ट्यानि भगवतः षडैश्वर्यपरिणामभूतानि, तथा च ऐश्वर्येण एजनं साकारीभूय, धर्मेण अनेजनम् अच्युतत्वरूपधर्मसद्भावात्, यशसा दूरस्थितिः तस्य केनाप्यनुकर्तुमशक्यत्वात्, श्रिया निकटस्थितिः भक्तैः श्रीयमाणत्वात्, ज्ञानेन भूतानाम् अन्तःस्थितिः प्रकाशकत्वात् , वैराग्येण बहिःस्थितिः अनासक्तत्वात् । तथोक्तम् **ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा** एवम् षडैश्वर्यसम्पन्नभगवतो महिमवर्णने तदित्यादि श्रुतिरनुसन्धेया । तत्, श्रुतिप्रसिद्धं परब्रह्म यद्वा, तनुते जगति व्यापकताम् इति तत् व्यापकः परमात्मा । एजति, चलति भक्तदुःखं दृष्ट्वा चलायमानो भवति यथा द्रौपदी करूणक्रन्दनेन गह्वरितोऽभवत् भगवान् कृष्णः—

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितो भवत् ।
त्यक्त्वा शैय्यासनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात् ।।

(महाभारत २/६८/४४)

तत, परब्रह्म । न एजति, निजचरणविमुखानां दुःखेन न कम्पते । तत् दूरे, अज्ञानां कृते भगवान् सुदूरवर्ती । तत् , परमेश्वरः । उ, निश्चयेन । अन्तिके, तेन सह स्वीकृतभजनानुकूलसम्बन्धानां भक्तानां समीपवर्ती । अस्य सर्वस्य, दृश्यमानस्य प्राणिमात्रस्य अन्तःकरणे अन्तर्यामितयो स्थित्तः । तत्, परमात्मा उ, निश्चयेन अस्य सर्वस्य, सम्पूर्णभूतस्य बाह्यतः, बहिः कालरूपेण स्थितः । अन्तस्थः सन् अमृतत्वं बहिष्ठः सन् जगद्रक्षणं करोति इति विवेकः ।

चलत्यचल एवासौ दूरान्तिकतया स्थितः ।
अन्तर्बहिस्थितश्चापि भाववैषम्यकारणात् ।।श्रीः।।

पूर्वोक्ताभ्यां द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां परमात्मनः सकलविरूद्धधर्माश्रयता नित्यषडैश्वर्यसम्पन्नता चेति गुणद्वयमुक्तम् । इदानीं तं चिन्तयो जनस्य साधनपरिष्क्रियोच्चते यस्त्वित्यादि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।६।।

तु यः सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति च सर्वेभूतेषु आत्मानम् एव अनुपश्यति ततः न विजुगुप्सते, इयन्वयः ।

इमं परमात्मानम् अजानन् नरः घृणितकार्यं करोति । तु, किन्तु यः, साधकविशेषः, सर्वाणि, अशेषाणि, भवन्ति जायन्ते इति भूतानि, कर्तरि वर्तमाने **क्त** प्रत्ययः । आत्मनि, परमात्मनि, केचिदत्र प्रत्यगात्मनि इति व्याचक्षते तन्न शरीरपरिच्छेदतया तस्य व्याप्यत्वात् तस्मिन् सर्वभूतानां समाहारासम्भवात् । एव, नैव तद्भिन्नेति भावः अनुपश्यति, अनुक्षणं चिन्तयते, च, तथा, सर्वाणि च तानि भूतानि चेति सर्वभूतानि तेषु सर्वभूतेषु निखिलेषु स्थावरेषु जङ्गमेषु चिदचिदात्मकेषु च आत्मानम्, परमात्मानम् एव, नापरमात्मानम् इति भावः अनुपश्यति, आनुकूल्येन चिन्तयते, अत्र प्रसङ्गानुरोधेन एव अनु पश्यति इति त्रीण्यपि पदानि उभयत्र अन्वेतव्यानि । अथ आत्मनि सर्वभूतदर्शनेन सर्वत्रात्मदर्शनेन को लाभः? इत्यत आह—तत इति । ततः, तस्तात् उभयत्रोभयदर्शनात् जनः न विजुगुप्सते, न घृणास्पदं कार्यं करोति सर्वभूतपरमात्मनोः अपृथक् स्थितिदर्शनात् विशुद्धबुद्धिः घृणितकार्याय नावकाशं लभत इति भावः । यद्वा ततः इति प्रथमान्तपदं तनुविस्तारे इत्यस्य **क्त** प्रत्ययान्तरूपम् । ततः ब्रह्मविज्ञानसम्पत्तियुक्तः । वस्तुतः इयं दर्शनरीतिः उत्तमभागवतानां श्रीमद्भागवते समवर्णि । तद्यथा एकादशे नवयोगेश्वरनिमिसंवादोपक्रमे निमिं प्रति श्रीहरिः प्राह—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।।

(श्रीमद्भागवत ११/२/४५)

अहो अयं श्लोकः कियता कौशलेन श्रुतेरर्थमनुवदति । निष्कर्षस्तु परमात्मनि सर्वभूतभावनां कुर्वन् सर्वत्र च परमात्मानं विभावयन् जीवपरमात्मनोः समत्र ऐकाधिकरण्यं विचिन्तयन् मानवः कृतकृत्यो भवति । अनया श्रुत्या स्पष्टं जीवात्मपरमात्मनोः स्वरूपतो भेद उपपादितः । इत्थं श्रुतिसिद्धान्ते जागरूकेऽपि यदि केचन दुराग्रहग्रहिलाः उभयोरभेदं प्रलपन्ति तर्हि त्रिदोषजन्यसन्निपातपीडितप्रलापैरिव अलं तैः सम्भाषणेन, वेदार्थस्तु—

यः सर्वभूतान्यनुपश्यतीशे भूतेषु सर्वेषु तथा परेशम् ।
ततो न किञ्चत् विजुगुप्सतेऽसौ षष्ठश्रुतेरेष उदाहृतोऽर्थः ।।

ननु पूवोक्तमन्त्रे जुगुप्साभावरूपं जीवात्मपरमात्मसामञ्जस्यफलमुक्तं, किमिदमेव चरमं फलं साधकानाम् अन्यत् किञ्चित् विलक्षणम् वा? इति विचित्सायाम् आह– यस्मिन्निति—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि विजानतः आत्मा एव अभूत्, तत्र एकत्वम् अनुपश्यतः कः मोहः कः शोकः, इत्यन्वयः ।

यस्मिन्, यस्मिन्नवस्थाविशेषे, सर्वाणि निखिलानि भूतानि, प्राणिजातानि विजानतः,विवेकेन ज्ञानविषयान् कुर्वतः, एषु सर्वेषु अनतर्यामितया परमात्मैव तिष्ठति इमान् सर्वान् सर्वतः परमात्मैव विराजते इति विवेकपूर्वकं विचारयतो जनस्य समक्षम्, आत्मा आप्नोति व्याप्नोति इति आत्मा, स खलु सर्वान् जीवान् व्याप्नोति आदत्ते भक्तानां पत्रपुष्पफलजलानि यः स आत्मा परमेश्वरः, एव निरस्तसकलहेगुणप्रत्यनीकः अभूत्, आविर्भूत् । तत्र, तस्मिन् काले एकत्वम्, जीवब्रह्मणोः सेवकसेव्यभावसम्बन्धापर- पर्याययम्, अनु अनुक्षणम् आनुकूल्येन वा पश्यतः निश्चिनुतः विभावयतः जनस्य कः मोहः, को नाम वराको मोहः अभिभवितुं समर्थः, कः शोकः किन्नाम इष्टजनवियोगजनित दुःखं परिदेवयितुमलम्। एकत्वं केषाञ्चिन्मते अभेदपरं तन्त्र, श्रीधराचार्योऽपि—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते

(भागवत १०/२९/१५)

इति श्लोके समागतम् ऐक्यं सम्बन्धपर्यायममन्यत्, तथा हि तत्र श्रीधरी **एक्यं सम्बन्ध** इति। भगवान् वेदव्यासोऽपि ऐक्यं सम्बन्धपर्यायमेव मन्यते यथा—

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।

(श्रीमद्भागवत ७/१/३०)

अस्मिन् श्लोके ये भगवति तन्मयताहेतवः कामभयद्वेषसम्बन्धस्नेहभक्तिनामानः भावाः क्रमेण गोपीकंस शिशुपालवृष्णियुधिष्ठिग्नारदादयः पूर्वोक्तभावानाम् आश्रायाः निर्दिष्टाः, तेषामेव पुनर्दशमे रासमधिकृत्य पृच्छन्तं महाराजं परीक्षितं प्रति समाधानं प्रस्तुवता श्रीशुकेन त एव भूयो कामक्रोधमित्यादिनाभ्यस्ताः । अत्र पूर्वोक्तसम्बन्ध

शब्दस्य ऐक्यं पर्यायत्वेनोक्तम् अन्येषाम् अनुवाद एव कृतः तस्माद् एकत्वमित्यस्य व्यासेनापि सम्बन्ध एवार्थः स्वीकृतः। एतेन एकत्वमद्वैतम् इति प्रलपन्तः परास्ताः। जीव ब्रह्मणोस्वरूपत एकत्वम् त्रिकालमपि प्रतिपादयितुं न शक्यम्, अनेकासु श्रुतिषु तयोः भेदपरकवाक्यश्रवणात्, यथा—**द्वासुपर्णा सयुजा सखायाः आनंन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन, तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति** इत्यादि । यत्र क्वचिदभेदप्रतिपादकानि वाक्यानि श्रुतिषु दृश्यन्ते तत्र सम्बन्ध-निबन्धनामेकतां जीवब्रह्मणोराश्रित्यैव । अत्रेदमवधेयम् स्वरूपतो जीवब्रह्मणोरेकत्वमसम्भवं **नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्** इति श्रतौ जीवस्यापि नित्यत्वप्रतिपादनात्। अतो हेतोः सम्बन्धनिबन्धनमेकत्वमङ्गीकुर्मो वयं ब्रह्मजीवयोः श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यपदपद्म-करन्दमधुकराः विशिष्टाद्वैतवादिनः । यदा ब्रह्मजीवयोः श्रुतिवाक्यप्रेरणाया सद्गुरूकृपया सेव्यसेवकभावो विनिश्चीयते तस्य सम्बन्धस्यैकत्वादखण्डत्वाच्च सम्बन्धिनोरप्येक-त्वमुपचर्यते । एवमेव श्रीरामसुग्रीवयोः सेव्यसेवकभावमूलकसख्यसम्बन्धे निश्चिते प्राह प्राभञ्जनिर्मैथिलीं वाल्मीकीयरामायणे **रामसुग्रीववयोरेवं देव्यैक्यं समपद्यत** ।

इत्थं ब्रह्मजीवयोः सम्बन्धापरपर्यायम् एकत्वमनुपश्यतः को लाभः ? इत्यपेक्षायाम् आह । स इत्यादि—

स पर्यगाच्छुक्रमकायम
व्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-
र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।।८।।

यः कविः मनीषी परिभूः स्वयम्भूः, यः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्, तम् शुक्रम् अकायम् अव्रणम् अस्नाविरम् शुद्धम् अपापविद्धम् सः (एकत्वमनुश्यन्) पर्यगात्, इत्यन्वयप्रकारः ।

इदानीम् एकत्वानुदर्शिनः परमात्मप्राप्तिः प्राप्तस्य च परमात्मनः दसलक्षणानि इत्येकादशविषया अस्यां श्रुतौ विविच्यन्ते । अत्र परमात्मनः वैशिष्टप्रतिपादकाः कवित्वादयःचत्वारोगुणाः प्रथमैकवचननान्ततया सङ्कीर्त्यन्ते, षड्गुणाः शुक्रत्वादयो द्वितीयाविभक्त्या गीयन्ते । यः श्रुतिप्रसिद्धः परमात्मा कविः क्रान्तदर्शी यद्धा कं ब्रह्माणमपि वशयति तज्जनकतया वशीकरोति नियमतीति यावत् स कविः सृष्टिकर्तुर्ब्रह्मणोऽपीश्वर इति भावः, मनीषी मनः इष्णाति वशीकरोतीति मनीषी । परमात्मनैव खलु विविधसङ्कल्पानि मनांसि नियम्यन्ते, यद्वा ईश्यते अभिलष्यते इति

ईषा मनसः ईषा मनीषा बुद्धिः, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् **बुद्धिर्मनीषाधिषणाधीः** इत्यमरः, सा नित्या प्रशस्ता च मनीषा बुद्धिः अस्ति अस्मिन् इति मनीषी प्रशस्तबुद्धिमानित्यर्थः, परिभवति सनातनधर्मविद्वेषणो यः स परिभूः, परिभवति भक्तहृदयस्थान् कामक्रोधलोभ-मोहमदमात्सर्यादिविकारान् इति परिभूः, धर्मविरोधिभक्तविरोधिप्रत्यूहानां प्रशासक इति भावः, स्वयम् द्वन्द्वधर्मनिरपेक्षः रजःशुक्रसंयोगमन्तरेणापि भवति कौशल्यादिगर्भ आविर्भवतीति स्वयंभूः। भगवान् खलु अघटितघटनापटीयसीयोगमायया भक्तभावनावशंवदः कौशल्यादिसङ्कल्पमात्रेण जागतिकगर्भाधानक्रियामनपेक्ष्यैव आविर्भवति । एतेन संहितायामपि भगवदतारबीजं प्रादर्शि । यः सर्वज्ञः परमेश्वरः, शाश्वतीभ्यः शश्वत् निरन्तरं भवः वर्तमानः इति शाश्वतः भगवान्, अत्र प्रत्ययार्थो भव शब्दः सत्तापरः न तु उत्पत्तिपरः, भूधातोः सत्तार्थकत्वात् । तस्यैव शाश्वतस्य भगवतः सम्बन्धिन्यः इमाः प्रजाः शाश्वत्यः भगवत्सम्बन्धभाज इत्यर्थः, ताभ्यः शाश्वतीभ्यः समाभ्यः द्वन्द्वेषु समत्वेन वर्तमानाभ्यः, यद्वा मा भक्तिरूपालक्ष्मीः **इन्दिरालोकमातामा** इत्यमरः, मया भक्तिरूपलक्ष्म्या सह वर्तमानाः इति समाः ताभ्यः समाभ्यः भगवद्भक्तिलक्ष्मीवतीभ्यः इति भावः, याथातथ्यतः यथा तथा इति अव्यम् यथा तथा भावः याथातथ्यम् तस्मात् याथातथ्यतः **पञ्चभ्यर्थे तसिल्** यथोचितमिति भावः, अर्थान् प्रयोजनानि व्यदधत् सफलयामास, यः निजकमलचरणशरणवतीभ्यः स्वकीयाभ्यः प्रजाभ्यः आवश्यकतानुरूपं सम्पूर्णानि प्रयोजनानि सफलानि समुपादयदित्यक्षरार्थः । केचन शाश्वतीभ्यः समाभ्यः इत्यत्र पञ्चमीबहुवचनं मत्वा समाशब्दस्य वर्षरूपमर्थं कृत्वा अनन्तेभ्यो वर्षेभ्यो भगवान् जीवानां यथायथम् उपभोगसामग्रीरूपानर्थान् व्यदधात् व्यरचयत् इति व्याचक्षुः, किन्तु वयं जीवानां भगवतोऽर्थविधाने अपूर्वताभावं विभाव्य तद् व्याख्यायां भक्तिस्वारस्याभावात् चतुर्थीमेवात्र रोचयामः । तम्, एवं गुणगणविशिष्टम् शुक्रम्, निरस्तनिखिलहेयगुणपुञ्जतया शक्लं निर्दोषं **निर्दोषं हि सतं ब्रह्म** इति स्मृतेः, अकायम्, न व्यक्तः कायः चिन्मयशरीरः यस्य स अकायः तम् अव्यक्तशरीरमिति भावः । यद्वा न विद्यमानं कायं प्राकृतशरीरं यस्मिन् स अकायः तथाभूतं भगवतो दिव्यविग्रहत्वेन तत्रास्मदादिष्विव प्राकृतशरीरात्यन्ताभावसद्भावात्, अव्रणम् न विद्यन्ते पापरूपाः व्रणाः यस्मिन् तथाभूतं, भगवान् खलु सर्वपापवर्जितः **अपहतपाप्मा** इति श्रुतेः । यद्वा, न विद्यन्ते रावणादिकृताः शस्त्रव्रणाः यस्मिन् तथाभूतं रावणादीनामायुधानि भगवतश्चिन्मयशरीरं स्वायुधैर्व्रणयितुं न प्राभवन् । अस्नाविरम्, स्नावयन्ति रक्तं समग्रशरीरे इति स्नावाः शिराः, न विद्यन्ते प्राकृताः स्नावाः यस्मिन् स अस्नाविरः तम्, स्नावा शब्दात् मुतबर्थीयः इरच् प्रत्ययः,

स्नावा सन्ति अस्मिन् इति स्नाविरः तद्भिन्नमस्नाविरम् इति हि प्रत्ययानुरूपविग्रहः । शुद्धम् सकलमलरहितम्, अपापविद्धम् पापेन भजनप्रतिबन्धकप्रत्यूहविशेषेण विद्धाः आहताः पापविद्धाःसंसारिणः, तद्भिन्नम् अपापविद्धं, परमेश्वरं हि पापानि न बाधन्ते तादृशं दशगुणसम्पन्नं **दशमस्त्वमसि** इति श्रुतेर्वाच्यं परमात्मानम् । पर्यगात्, परिश्रितः प्राप्तवान् भगवत्सम्बन्धानुशीलनेन एषः साधकः पूर्वोक्तदशलक्षणसम्पन्नं परमात्मानम् अनायासेन प्राप्नोतीति सारांशः ।

एकत्वदर्शी दशलक्षणाढ्यं विशुद्धविज्ञानघनं मुकुन्दम् ।
प्राप्नोति सम्यक् परिभूय पापं इत्यर्थमेतत् श्रुतिराह सूक्ष्मम् ।।श्रीः।।

अथ पूर्वोक्तपरमात्मानं परित्यज्य विभ्रान्ताः ये विद्यामविद्याञ्चोपासते तेषां का गतिः, किं वैलक्षण्यं विद्याविद्ययोः, तयोः समुच्चयः उताहो नहि ? इति समुद्भवयिष्यमाण-प्रश्नत्रयं समाधातुमुपक्रान्तमेतच्छ्रुतित्रिकम्—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः ।।९।।

ये अविद्याम् उपासते (ते) अन्धम् तमः प्रविशन्ति, ये उ विद्यायाम् रताः ते ततः भूयः तमः इव (प्रविशन्ति) इत्यन्वयः

ये जनाः परमात्मानं परित्यज्य अविद्याम्, न विद्यते न तिष्ठति क्षयशीलत्वात् इति अविद्या कर्मकाण्डप्रक्रिया ताम् अविद्याख्याम् उपासते, भगवदाराधनां त्यक्त्वा आसक्तिपूर्वकं कर्मकाण्डमेव कुर्वते, ते त्यक्तभगवद्समर्चाः शुष्ककर्मकाण्डरताः अन्धम् स्वरूपविस्मारकम्, तमः तिमिराच्छन्नं नरकलोकं प्रविशन्ति प्रविष्टा भवन्ति । ये, किन्तु ये केचन कर्मकाण्डं त्यक्त्वा, उ निश्चयेन विद्यायां विद्यते नित्यतया वर्तते इति विद्या तस्याम् तत्तद्देवोपासनारूपायां रताः कृतरागाः, ते तत्तद्देवोपासनारक्ततया त्यक्तवैदिककर्माणः, ततः तस्मात् अविद्योपासकलभ्यात् तमसः, भूयः अधिकं ध्वान्ततरं तमः नरकलोकं, इव यथा प्रविशन्ति प्राप्नुवन्ति ।

अत्रेदमनुसन्धेयम्–यदस्यां श्रुतौ प्रयुक्तम् अविद्यापदं कर्मलोकपरं **कर्मचितो लोको हि क्षीयते** इति श्रुतेः, अविद्याया अपि क्षयशीलत्वात्, विद्यापदमत्र देवोपासनापरम् **विद्ययादेवलोकः अविद्यया पितृलोकः** इति द्वाभ्यां श्रुतिभ्यां द्वयोः क्रमेण देवोपासनाकर्मप्रक्रियापरकता व्याख्याता । ये भगवन्तं त्यक्त्वा केवलं काम्यानि कर्माणि कुर्वते ते त्वन्धकारमयलोकं यान्त्येव, किन्तु ते तु ततोऽप्यधिकघोरतरं लोकं

प्राप्नुवन्ति ये फललिप्सया तत्तद्देवोपासनायां रज्जमानाः न भगवन्तं भजन्ते न वेदविहितकर्माणि कुर्वते। वस्तुतस्तु अविद्या पदं कर्मपरकं, विद्यापदं च ज्ञानपरकम्। ये केवलं अविद्यारूपं कर्मकाण्डमुपासते ते अन्धंतमः नरकं प्रविशन्ति। किन्तु ततोऽपि भूयांसं नरकं तेऽनुभवन्ति, ये कर्मकाण्डं त्यक्त्वा केवल विद्यारूपे ज्ञानकाण्डे रताः, इत्यनेन श्रुतित्रयप्रकरणेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः प्रतिपादितः इति साम्प्रदायिकाः।

अन्धं तमो यान्ति हरेः पदाब्जं
विहाय ये काम्यकृतौ प्रसक्ताः।
ततोऽपि ते घोरतरं व्रजन्ति
तत्तत्सुरोपासनबोधनिष्ठाः।।श्रीः।।

इदानीं द्वयोर्विद्याविद्ययोः फलवैलक्षण्यं प्रस्तौति, अन्यदित्यादिना—

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदावहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे।।१०।।

विद्यया अन्यत् एव (फलम्) आहुः, अविद्यया अन्यत् (फलम्) आहुः इति धीराणाम् शुश्रुम, ये नः तत् विचचक्षिरे, इत्यन्वयः।

विद्यया ज्ञानकाण्डरूपया अन्यत् अपरम् एव निश्चयेन फलम् आहुः, विद्यया साध्यं देवलोकरूपं फलमाहुः कथयन्ति श्रुतयः इति शेषः, **विद्यया देवलोकम्** इति श्रुतेः। अविद्यया कर्मबहुलया पित्र्युपासनया अन्यत् अपरं देवलोकतो विलक्षणं पितरलोकरूपं फलम् आहुः वदन्ति श्रुतयः **कर्मणा पितृलोकम्,** उभयत्र आहुरित्यादरार्थे बहुवचनम्। इति इत्थं विद्याविद्ययोः फलवैलक्षण्यं धीराणां, धीरपुरुषाणां बहुश्रुतानां सकाशात् शुश्रुम, पारोक्ष्येण वयं श्रुतवन्तः, ये ये समदुःखसुखाः सन्तः नः अस्मभ्यं तत्, ब्रह्मतत्वम् विचचक्षिरे, पारोक्ष्येण व्याख्यातवन्तः।

विद्यायाश्चाप्यविद्याया वैलक्षण्यं फले श्रुतम्।
वयमश्रुणम धीरेभ्यो ये व्याचक्षुः पुरा हि नः।।श्रीः।।

इदानीं द्वयोः कर्मज्ञानयोः समुच्चयं प्रदर्शयति—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।११।।

यः विद्याम् च अविद्याम् च तत् उभयम् सह वेद, (सः) अविद्यया मृत्युम् तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते इत्यन्वयः

यः विद्याविद्ये द्वे समुच्चिचीषुः विद्यां ज्ञानकाण्डरूपां च अविद्यां कर्मरूपाम् अत्र चकारद्वयं **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति** इति न्यायेन उभयतः समुच्चयार्थम् । तत् श्रुतिप्रसिद्धम् उभयम् एतद्द्वयं सह युगपदेव वेद जानाति स एव अविद्यया देवोपासनया कर्मरूपया, मृत्युं मरणधर्मयुक्तं संसारबन्धनं, तीर्त्वा अतिक्रम्य, विद्यया देवोपासनया अमृतं देवैः प्रदत्तम् अक्षयसुखमश्नुते, प्राप्नोति । अत्र अयं विवेकः—अस्मिन्त्रिके अविद्यापदं कर्मद्योतकं विद्यापदं च तत्तद्देवोपासनाद्योतकम् । तत्र ये भगवद्भजनं त्यक्त्वा उपासनां च विहाय केवलम् अग्निहोत्रदर्शपौर्णमासश्राद्धतर्पणादि कुर्वन्ति तेषामधोगतिर्जायते ततोऽप्यधिकतरं ते पतन्ति ये तत्तद्देवोपासनायां रज्यन्ते न वा भगवन्तं ज्ञातुं यतन्ते, न वा संध्यादिकवेदविहितकर्म कुर्वन्ति इति प्रथममन्त्रतात्पर्यम् । विद्याविद्ययोः कस्मिन्नंशे वैलक्षण्यम् इत्यपेक्षायां फलभेद उक्तः । अविद्यात्मकं कर्म कुर्वाणाः पितृलोकं यान्ति, देवांश्च उपासिनो देवलोकं व्रजन्तीति तारतम्यम् । अन्तेन द्वयोः युगपदज्ञानं निर्दिश्यते, यः साधकः द्वयोः भगवद्साधनयां यौगपद्येन सहाय्यमवगच्छति स जनः श्रुतिविहितकर्मापूर्वेण संसारसागरं तीर्त्वा निर्मलोभूत्वा तत्तद्देवोपासनया देवतानां प्रसादात् विध्वस्तभजनप्रतिबन्धकप्रत्यवायः अमृतरूपं परमात्मानं प्राप्तोति । ज्ञानकर्मणोर्नाम न भवतु समुच्ययः, परं कर्मोपासनयोः समुच्चीयमानयोर्न विप्रतिपद्यामहे । वस्तुतस्तु कर्मभिर्भगवभजनबाधकमलानि विधूय, उपासनया भजनविहन्तृविक्षेपाणि संक्षिप्य, ज्ञानेन च अज्ञानावरणं निरस्य, सर्वेषां परमार्थभूतं भगवन्तं श्रीरामं ब्रह्म सततमेवानुशीलयेत् अयमेव एतच्छ्रुतित्रयीभावः इति विरम्यते ।

विद्याभिधं यो भजतीह बोधम्
तथैव कर्माचरतीह्यविद्याम् ।
अविद्यया मृत्युमतीत्य विद्या—
बलेन पियूषजुषो लसन्ति ।।श्रीः।।

इदानीं मन्त्रत्रयेन सम्भूत्यसम्भूत्योः उपासनाफलं तयोः समुच्चयश्च वर्ण्यते—

सम्भूतिपदमत्र व्याकृतोपासनापरम्, असम्भूतिपदं अव्याकृतोपासनापरमिति केचन, केचिदिह सम्भूतिपदेन परब्रह्मोपासनाम् असम्भूतिपदेन देवपित्र्युपासनां मन्यन्ते । इदं मतद्वयमपि प्रकृतानुपयोगादुपेक्ष्यम्, ब्रह्होपासनायाः निन्दितत्वासम्भवात् हिरण्यगर्भोपासनाया अपि अधोगतिप्राप्तेरस्वारसिकत्वात् । मम मतेन सम्भूतिरत्र पराप्रकृतिः तथाहि सम्यक् भूतिः ऐश्वर्यं यस्याम् सा सम्भूतिः, सकलजगज्जीवनत्वात् परा प्रकृतौ सम्यगैश्वर्यं कर्तते एव, सम्भूयन्ते जन्मस्थितिसंहारमाध्यमेन जीवाः यया स सम्भूतिः । तद्भिन्नमसम्भूतिः अपराप्रकृतिः पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्काररूपा अस्याम् सम्यगैश्वर्यभावात्

जीवसम्भवाभावच्च असम्भूतिशब्दव्यवहार उवित एव । इत्थं अपरप्रकृत्युपासनया अधोगति:, परप्रकृतिरागे च ततोप्यधिकघोरतरा अधोगति:, परस्परफलवैलक्षण्येऽपि द्वयो: समुच्चयेन मृत्युसंसारसागरसन्तरणपूर्वक ब्रह्मसुखामृतत्वं समधिगन्तुं शक्यते, इदमेव एतत् त्रिकस्य तात्पर्यम् । अपरापराप्रकृत्यो: गीताया: सप्तमे श्लोकद्वयेन इत्थं निर्देश:—

भूमि रापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।
अयरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो यथेदं धार्यते जगत् ।।

(गीता अ० ७-४-५)

एवमेव अत्र सम्भूतिपदेन अक्षरोपासना असम्भूतिपदेन च क्षरोपासनापि गृहीतुं शक्या, क्षरोपासनैव अपराप्रकृत्युपासना अक्षरोपासना पराप्रकृत्युपासना बीजं च गीताया: पञ्चदशे—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।

परमात्मा आभ्यां क्षराक्षराभ्याम् अपरापराभ्याम् प्रकृतिभ्याम् विलक्षण: अतस्तयो: समुच्चयेन ते परमात्मसाधनायां माध्यममात्रंविधाय अन्तत: स्वलक्ष्यभूत: परमात्मैवाधिगन्तव्य:, न तु तयोरेकतरामुपास्य जीवनं नाशनीयम् इममेवार्थं एतच्छ्रुतित्रयस्य विनिश्चिनुम: । एवमेव विद्याविद्याप्रकरणनिरूपकस्य व्याख्यातचरस्य श्रुतित्रयस्यापि तात्पर्यं नवीनदृशाप्यूहितुं शक्यं तथाहि- मायाया एव विद्याविद्यानामनी द्वे रूपे, या निखिल़जगतो महान्धकारकोपपातिनी सा अविद्या, या च त्रिगुणात्मिका जगदुत्पत्तिस्थितिविनाशकारिणी भगवत्प्रेरिता सैव विद्या । तथा चाहु: श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्यप्रशिष्या: गोस्वामि तुलसीदासमहाराजा:—

माया भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।
एक दुष्ट अतिसय दु:खरूपा । जा बस जीव परा भव कूपा ।।
एक रचइ जग गुन बस जाके । प्रभुं प्रेरित नहि निज बल ताके ।।

इमे एव केचन आवरणशक्तिनाम्ना विक्षेपशक्तिनाम्ना च यथाक्रमं व्यवहरन्ति । एवमविद्या नाम्नीं मायामुपास्याघोलोकं यान्ति, ततोऽपि घोरतरं लोकं ते व्रजन्ति ये

गुणमयीं विद्यां मायामुपासमानाः भगवन्तमधोक्षजं विस्मरन्ति । अतो द्वे अपि भगवद्भजनप्रत्यूहनिरसने सहायिकीकृत्य त्यक्त्वा च ते, श्रीरामाभिधानब्रह्मशरणागत्या जीवः समुद्धरेदित्यस्ति मन्निश्चयः विद्याविद्याविमर्शश्रुतित्रये । तथा चाह गीतायां भगवान् पार्थसारथिः—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।

(गीता७-१४)

मामेवेत्यत्र प्रयुक्त एवकारो विद्याविद्य.योगच्यवच्छेदपरकः । इत्थं सुदुर्बोधयोरपि श्रुतित्रिकयोर्भगवत्कृपाप्राप्तमनीषया विवेचनं विधाय साम्प्रतं सम्भूत्यसंभूतिवर्णन-परश्रुतित्रयाक्षरार्थं व्याचक्षे—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ रताः ।।१२।।

ये असम्भूतिम् उपासते (ते) अन्धम् तमः प्रविशन्ति, ये उ सम्भूत्याम् रताः ते ततः भूयः तमः इव (प्रविशन्ति) इत्यन्वयः ।

ये, उपासकाः असम्भूतिमपराप्रकृतिं क्षरां सांसारिकसुखलिप्सया उपासते, सेवन्ते ते, साधकाः अन्धम्, परमात्मज्ञानहरं तमः, तिमिराच्छन्नं लोकं प्रविशन्ति, यान्ति । ये केचन उ, निश्चयं कृत्वा सम्भूत्याम्, पराप्रकृतावक्षरायां रताः बद्धरागाः ते तादृशाः ततः असम्भूतिलभ्यलोकतोऽपि भूयः अधिकघोरतरं तमः, तमोमयलोकम् इव यथा प्रविशन्ति । सम्भूत्यसम्भूतिव्युत्पत्तिविवेचना तु प्रागेव दर्शिता ।।श्रीः।।

अथ द्वयोः फलवैलक्षण्येन अपरापरात्वत्तारतम्यं वर्णयति अन्यदिति—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुमधीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१३।।

सम्भवात् अन्यत् एव आहुः, असम्भवात् अन्यत् आहुः इति धीराणाम् शुश्रुम ये नः तत् विचक्षिरे, इत्यन्वयः ।

सम्भवशब्दः सम्भूतिपर्यायः स च पराप्रकृत्युपासनापरःतस्मात् सम्भवात् पराप्रकृत्युपासनातः अन्यत् एव, किमपि विलक्षषम् अणिमादिभोगरूपं फलम् आहुः वदन्त्याचार्याः । असम्भवात् अपराप्रकृतेः क्षरायाः उपासनातः अन्यत् पूर्वस्माद् विलक्षणं

सांसारिकं निकृष्टयोनिप्रापकं भोगरूपं फलम् आहुः उपदिशन्ति, इति अनेनप्रकारेण क्षराक्षराफलवैलक्षण्यं धीराणां महापुरुषाणां सकाशाद् शुश्रुम आकर्णयामासिम वयं इति शेषः । ये परमाचार्याः, नः असमभ्यं विवित्सुभ्यः तत् पूर्वोक्तं सम्भूतिरहस्यं विचचक्षिरे विवेचयामासुः—

अक्षरायाः क्षरायाश्च फले भेदप्रकृतितः ।
इत्येव परमाचार्याः प्रकृत्योर्न उपादिशन् ।।श्रीः।।

अथ सम्भूत्यसम्भूत्योः समुच्चयेन प्रकरणमुपसंहरति—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभय ँ् सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसम्भूत्याऽमृतमश्नुते ।।१४।।

यः सम्भूतिम् च विनाशम् च तत् उभयम् सह वेद, (सः) विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते, इत्यन्वयः

यः, साधकः सम्भूतिं परां प्रकृतिं विनाशम्, अपरां प्रकृतिं क्षराम्, अत्र अपरा प्रकृतेः क्षरत्वप्रतिपादनायैव असम्भूतेः विनाशमिति पर्यायं प्राह यथा असम्भूतेः नाशशीलता कण्ठरवतो निगदिता स्यात् । उभयत्र चकारानुवृत्या सम्भूत्यसम्भूत्योः समुच्यय उक्तः । तत् तथासमुचितमुभयम्, एतदुपासनाद्वयं सह सार्धमेव वेद जानाति, सः विनाशेन अपराप्रकृतित्युपासनया मृत्युम्, मरणशीलं संसारं, म्रियते यत्रेति निरूक्ते **मृत्युसंसारवर्त्मनि** मृत्युसंससागरात् इत्यसकृत्स्मृतत्वात्, तीर्त्वा समुत्तीर्य, सम्भूत्या पराप्रकृत्युपासनया अमृतं, परब्रह्मसुखम् अश्नुते, अनुभवति । अनयोः समुच्चयं ज्ञात्वा तथेतदतिरिक्तं लक्ष्यभूतं परब्रह्मतत्वं विनिश्चित्य तमेव सर्वाधिष्ठानं सर्वसाक्षिणं सर्वसर्वेश्वरं भगवन्तं रघुपुङ्गवमनन्यमनसा चिन्तयति तन्नामरूपलीलाधाम्नामसकृदनुशीलनेन निरस्तसकलकल्मषकलापः साम्रेडं भगवदीयप्रेमामृतमनुबोभूयते यथोक्तं गीतायाम् **उत्तमः पुरूषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः** ।

असम्भूतेश्चवसम्भतेः सम्विभाव्य समुच्ययम् ।
प्राप्नोति परमात्मानं तीर्त्वा संसारसागरम् ।।श्रीः।।

एतावतौपनिषदभागेन ब्रह्मणो व्यापकता पुरःसरं तन्निमित्तकर्माणि विधित्वेन निर्णीय ब्रह्मस्वरूपं वर्णयित्वा एकत्वदर्शिनः शोकमोहनिरसनोपायं कथयित्वा प्रकरणद्वयेनोपासनारहस्यमुद्घाट्य खिलांशेन जीवस्य परमात्मसामीप्यावाप्तये प्रार्थनाप्रकारं प्राह चतुभिर्मन्त्रैः परमर्षिः—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

हे पूषन् ! हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य मुखम् अपिहितम् सत्यर्माय दृष्टये तत् त्वम् अपावृणु इत्यन्वयः । भगवत्परम्पदपद्ममकरन्दपिपासुः परमेश्वर–मृगाङ्कमाधुरीपानाय लोचने चकोरायिते चिकीर्षुः प्रार्थयते परमात्मानम्—हे पूषन् ! पुष्णात्यशेषं जगदिति तत् सम्बोधने रूपमेतत्, हे निखिलजगति पुष्टिप्रदातरिति भावः । हिरण्यस्य सुवर्णस्य विकारः इति हिरण्मयं तेन हिरण्मयेन हिरण्मयशब्दः ज्योतिर्मयत्वद्योतकः, सुवर्णस्य तेजस्यन्तर्भावः न्यायशास्त्रे प्रसिद्धः एवंभूतेन ज्योतिर्मयेन पात्रेण पिधानभूतेन पिधानसदृशेन वा, पात्रशब्दः पात्रसदृशे लाक्षणिकः, सत्यस्य सत्स्वरूपस्य तव मुखं, द्वारम् अपिहितं, समावृतम् । आशयोऽयं प्रार्थयितुः यत्- हे परमात्मन् । त्वं स्वस्वरूपेण सूर्यमण्डलमध्यममधितिष्ठसि तादृशं सूर्यमण्डलमध्यस्थं तव स्वरूपं सूर्यस्य सौवर्णकिरणैस्तथेवावृतं यथा कस्यचिन्मुखं स्वर्णपात्रेणाच्छादितं भवति, द्रष्टा सामान्यतः स्वर्णपात्रं तु विलोकयति परं सुवर्णपात्रान्तर्गतं वस्तु न विलोकयति, तेन तस्य वस्तुनः पिहितत्वात् । तथैवाहमपि सामान्यरूपेण सूर्यकिरणान् विलोकयन् तज्ज्योतिषा विमुष्टदृष्टिस्तन्मध्यस्थं सीताभिरामं नीलसरोरूहश्यामं लोकलोचनाभिरामं श्रीरामं त्वां न द्रष्टुं पारये । अतः त्वं सत्यः सद्भ्यो हितः सत्यः सज्जनहितकर्ता, तस्मात् तव शरद्विमलविधुनिन्दकवदनमहं सौन्दर्यसदनं दिदृक्षे । सत्यः सद्भ्यो हितत्वात् भक्तिरूपः धर्मः कर्तव्यत्वेन विहितः यस्य तथा भूतोऽहं सत्यधर्मः, जीवस्य कृते भगवद्भजनमेव धर्मत्वेन निर्णीतं तादृक् धर्मसम्पन्नाय सत्यधर्माय, मे दृष्टये निजस्वरूपदर्शनाय तत्, ज्योतिर्मण्डलपिधानं त्वं प्रणतानुग्रहकातरः, अपावृणु अपसारय यथाऽहं तव निरावरणमुखं विलोक्य स्वरूपं विचिन्त्य वा कृतकृत्यो भवेयम् अयमेवार्थः श्रुत्यभिप्रेतः । भगवतः सूर्यमण्डलस्थितिं श्रुतिःकण्ठरवेण निगदति । तद्यथा बृहदारण्यकाः पठन्ति- **तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो एष एतस्मिन्मण्डले पुरूषो यथा यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरूषः सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्** इति श्रीरामस्तवराजेऽपि । यत्तु केचन इत्थं व्याचक्षते- हिरण्मयेन स्वर्णनिर्मितेन पात्रेण जगतीतलचाकचिक्यपूर्णविषयभोगेण सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः तत्वात्मकं मुखम् आवृतम् । इयं व्याख्या केवलं भावप्रधाना नैव श्रुतिस्मृतिप्रकरणार्थाननुगच्छति तस्मात्पूर्वोक्तः पक्षो ज्यायान् वेदार्थस्तु—

यत्सूर्यमण्डलगतं तव सत्यरूपम्,
नीलाब्जसम्मितमहो पिहितं च भानोः।

ज्योतिर्मयैश्च किरणैस्तदपावृणु त्वम्,
दृष्टवा यथाहमधियामि कृतार्थभावम् ।।श्रीः।।

अथ पुनरेव तमेव सूर्यरूपं भगवन्तं, तद्दर्शनव्यवधायकानि रश्मितेजांसि संहर्तुं प्रार्थयते—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरूषः सोऽहमस्मि ।।१६।।

पुषन् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य रश्मीन् व्यूह, तेजः समूह, यत् कल्याणतमम् रूपम् तत् ते पश्यामि, यः असौ पुरूषः असौ सः अहम् अस्मि इत्यन्वयः ।

अस्य मन्त्रस्य द्वेधा व्याख्याने कर्मकाण्डदृष्ट्या सूर्यपरकं ज्ञानकाण्डदृष्ट्या श्रुतीनां भगवत्येव परमतात्पर्यपरतया भगवत्परञ्च । प्रथमकल्पे- हे पूषन् ! निजरश्मिद्वारेण समस्तजगत्पोषक ! एकम् अनुपमं गगनं ऋषति गच्छति इत्येकर्षिः गत्यर्थक ऋष् धातोः इच् प्रत्ययः, आकाशं च एकमेव प्रसिद्धं **गगगं गगनाकरम्** इति वाल्मीकिवचनमपि मानं, नैय्यायिका अपि आकाशस्य व्यक्तेरभेदमाश्रित्यैव जातिबाधकसिद्धान्तेषु प्रथमतो गणयन्ति । सूर्यो हि तदेवैकमाकाशमहर्मिशं गच्छति तस्मात्स एवैकर्षिः सूर्यः तत्सम्बुद्धौ हे एकर्षे !, यमयति नियमयतीति यमः नियन्ता तत्सम्बुद्धौ हे यम ! सुवति प्रेरयति प्राणिनः इति सूर्यः **राजसूयसूर्यइत्यनेन सूर्यशब्दस्य निष्पत्तिः** । तत्सम्बुद्धौ हे सूर्य ! हे जगत्प्रेरक ! प्रजापतिः कश्यपः तस्य अपत्यं पुमान् प्राजापत्यः **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाऽण्यः** (पा. सूत्र) इत्यनेन **ण्य** प्रत्ययः तत्सम्बद्धौ हे प्राजापत्य ! हे कश्यपसूनो ! रश्मीन्, निजप्रखरकिरणान् व्यूह उपसंहर तेजः, वर्चःसमूहः, सङ्कलय, यत् अपूर्वम् ते तव कल्याणतमम्, सकललोककल्याणकारि आधिदैविकं रूपम्, स्वरूपं तत्, अपूर्वं ते, तव तुभ्यं वा पश्यामि, विलोकयामि विलोकयेयमिति भावः **व्यत्ययाल्लिङर्थे लट्** । यः, तृष्यमानः असौ, तव मण्डलस्थः पुरूषः हिरण्यगर्भरूपः असौ, पुरस्थितः अहम् साधकः सः अस्मि, स एव भवामि अर्थात् तव मण्डलस्थितः यः पुरूषः, अहमपि आकृत्या तत्सदृशोऽस्मि अत्र **सिंहोमाणवक** इति वत् तच्छब्दः तच्छदृशे लाक्षणिकः । अथवा अस्मीत्यपि स्यामित्यर्थको लडुत्तमपुरूषैकवचनप्रयोगः । तव कृपया अहमपि तव मण्डलस्थपुरूषसदृशो भवेयमिति कामयते । द्वितीयपक्षे अन्वयस्तु प्रायः पूर्ववत् चरमेंऽश ईषत् परिवर्तनं असौ असौ यः पुरूषः सः अहम् अस्मि हे पूषन् ! हे भक्तपोषणकारि परमात्मन् ! **पोषणं तदनुग्रहः** इति भागवतवचनात् ईश्वरः स्वकान् भक्तान् कृपामृतधारया पुष्णात्येव । ऋषति स्मरतः भक्तान् प्रतिगच्छति भक्तभावनां वा जानाति भक्तान् संसारसागरात्

मोचयति तत्तन्मुनिष्वाविष्टतया मन्त्रांश्च पश्यतीति ऋषिः, एकोऽद्वितीयश्चासौ ऋषिरिति एकर्षिः तत् सम्बुद्धौ सर्वजगन्नियन्त्रित्वात् हेयम्, हे सूर्य ! सर्वप्रेरक ! सूर्यस्यापिसूर्य ! **सूर्यस्यापिभवेत्सूर्यः** इति रामायणवचनात् । प्रजापतयो ब्रह्मादयः तेषामयं देवता प्राजापत्यः तत्सम्बुद्धौ हे प्राजापत्य ! हे देवाधिदेवभक्तवत्सल ! तस्येदमित्यर्थे ण्यत् । रश्मीन्, तव चरणप्राप्तिव्यवधायकान् मायामरुमरीचिकारश्मीन्, व्यूहः विगमय दूरी कुरू तेजः, नीरसतोत्पादकम् ऐश्वर्यम् विराड्रूपादिकं समूहः संहिर, अर्जुनोऽपि यद्दृष्ट्वा भयभीतो जातः **भयेन च प्रव्यथितं मनो मे** गीता ११-४५ इति गीतोक्तेः । तत्ते कल्याणतमं, सकलसौन्दर्यमाधुर्यमण्डितं कोटिकोटिकन्दर्पदर्पदलनं नीलोत्पलदलश्यामलं धनुर्बाणाद्युपलक्षितं सीताभिरामरामरूपं तत्ते पश्यामि विलोकयेयम् । ननु, देहममतावान् अनात्मज्ञानसम्पन्नो न शक्यते द्रष्टुं इत्यत आह—असौ असौ प्राणे प्राणे प्रतिप्राणमिति भावः **वीप्सायां द्विर्वचनम्** । यः प्रसिद्धः पुरुषः पुरुषर्थवादी जीवात्मा सः अहमस्मि अर्थात् प्रतिप्राणमुपश्लिश्य शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तस्त्वदंशभूतश्चेतनघनो जीवात्मा अहमस्मि । असौ असौ इति औपश्लेषिकी सप्तमी । यथा पुत्रस्यैव पितृसम्पद्भोगाधिकारः तथैव ममैव तव सकलसौन्दर्यनिधानस्वरूपदर्शनाधिकारः । वेदार्थस्तु—

विगमय निजमाया मोघरश्मीन् रसज्ञ,
गमय पुरूषतेजो भृत्य पूषन् परात्मन्,
तव जलधरनीलं रूपमालोकयेयं
प्रतितनुकृतवासः शुद्धबुद्धोऽहमात्मा ।।श्रीः।।

इदानीं परमनिर्विण्णो भगवत्समीपगामी नश्वरशरीरममतात्यागपूर्वकपरमात्मस्मरणं पौनः पुण्येन प्रार्थयते -

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ स्मर क्रतो स्मर कृत ँ स्मर ।।१७।।

हे ॐ ! अथ वायुः अनिलम् प्रविशतु (अलिनः) अमृतम् प्रविशतु, शरीरम् भस्मान्तम् (भवतु) क्रतो ! (माम्) स्मर (मम) कृतम् स्मर, क्रतो ! (माम्) स्मर (मम) कृतम् स्मर, इत्यन्वयः ।

अधुना इमं लोकं त्यक्त्वा भगक्तो नित्यपरिकरभावं गच्छन् दैन्यप्रवणचित्तो भागवतः प्रार्थयते—हे ॐ! एतस्य ऊनविंशतिरर्थाः पूवमेव व्याख्याताः । तेषु प्रथमरक्षणार्थः इह गृह्यते, हे जगद्रक्षकॐकारस्वरूप ! अथ, अस्या लोकयात्रायाः अनन्तरं वायुः मम पञ्चप्राणात्मकः समीरः, अनिलम् त्वद्विभूतिरूपं सूक्ष्मं वायुदैवतं

प्रविश्यतु, सूक्ष्मवायुरपि अमृतम् अविनश्वरं त्वां प्रविशतु, शरीरम् शीर्णत्वात् नष्ट प्रारब्धबन्धनं पाञ्चभौतिककलेवरं भस्मान्तं भस्मावसानं स्यात् । हे क्रतो ! सकलसङ्कल्पपूरक मां स्मर सततं दासरुपेणैव चिन्तय, ममकृतं निजकैङ्कर्यं स्मर, अन्यान् दोषान् विस्मर इति ध्वन्यते । हे क्रतो ! हे यज्ञेश्वर ! मां स्मर कृपाभाजनतया चिन्तय, मम कृतं निज चरणसरोजप्राप्त्यभिलाषं स्मर, मया कृतानि विकर्माणि विस्मर इति सङ्केत्यते । अत्र द्वितीयोऽपि पक्षः—श्रुतिः वत्सलतया जीवमुपदिशति, त्वयि शरीरं त्यक्तवति प्राणवायुः अनिलं सूक्ष्मवायुं प्रविशतु, तच्च भगवन्तममृतं प्रविशतु, शरीरं च भष्मीभवतु । हे सकल्पमय जीवात्मन् ! त्वं कृतं स्मर निज जीवने कृतकर्मजातं स्मर, पुनश्च कृतं भगवता कृतमुपकारसमूहं स्मर । श्रुतिसारस्तु—

वायुश्चमे यात्वथसूक्ष्मवातं,
त्वक्त्वामृतं भस्मभवेत् तनुर्मे ।
मां दासरूपेण हरे ! स्मर त्वं,
कृपानिधे विस्मर मेह्यघानि ।।श्रीः।।

साम्प्रतं चरमे मन्त्रे भगवद्विभूतिव्याजेन भगवन्तं स्मरन् शोभनेन पथा स्वसमीपं नेतुं प्रार्थयमानः निजदुरितनाशायानुरन्धानो निखिलश्रुतिमहातात्पर्यं सीताभवं कौशल्यानन्दवर्धनराघवं ब्रह्म प्रणतिभिर्नमस्करोति भगवदन्तरङ्गशिखाभणिरेषा संहिताभागीया चरमाश्रुतिः ।

अग्ने नय सुपथा राये
अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नमउक्तिं विधेम ।।१८।।

इत्युपनिषत् ॐ पूर्णमदः इति शान्तिपाठः ।

हे अग्ने देव ! विश्वानि वयुनानि विद्वान् (त्वम्) राये अस्मान् सुपथा नय, जुहुराणम् एनः अस्मत् युयोधि, ते भूयिष्ठाम् नमउक्तिम् विधेम, इत्यन्वयप्रकारः ।

भगवद् सामीप्यकामः साधकः जीवनस्य विश्रामपुष्पाञ्जलिरूपेण स्वाभिमताभिलाषद्वयपूर्विकां प्रणतिं विदधाति प्रणतपालकपरमेश्वरपदपद्मयोः । यद्यपि कर्मकाण्डिनः इमं मन्त्रम् अग्निपरकतया व्याचक्षते सुगमतया सा व्याख्या स्वयमूह्या, परमार्थतस्तु–अर्च्यते पूज्यते इति अग्निः, अग्र नीयते प्रथमदेवत्वात् यः सोऽग्निः तत्सम्बुद्धौ हे अग्ने ! हे सकलचराचरवन्दीय ! हे सर्वेषामग्रगामिन् ! अग्नेरप्यग्ने ! **अग्नेरग्निः** इति वाल्मीकिवचनात् । हे देव ! हे द्युतिमन् राघवेन्द्र!

विश्वानि सम्पूर्णानि वयुनानि, अस्मत् विहितकर्माणि अस्मदज्ञानलक्षणसङ्कल्पांश्च विद्वान् सर्वज्ञतया जानन्, तेषु ध्यानं न दत्वा त्वं राये निजनित्यकैङ्कर्यलाभरूपधनाय अस्मान् भवत्पदपद्ममभिजिगीषून् सुपथा शोभनेन मार्गेण दक्षिणपथव्यतिरिक्तेन वस्तुतस्तु भगवद्भक्तपदपद्मपरागपूतेन मार्गेण, नय निजचरणसरसीरूह सन्निधिं गमय। जुहुराणम्, त्वत्परिकरभावप्रतिबन्धकप्रत्यूहं कुटिलम्, एनः पापम्, अस्मत् अस्मत्तः, परिकरेभ्यः युयोधि निरस्तं कुरु। हे पतितपावन ! वयम् अल्पसत्वास्त्वां परिचरितुमसक्ताः ते तुभ्यं भूयिष्ठाम् अधिकतमां नमसां नमस्काराणां साष्टाङ्गदण्डप्रणामानाम् उक्तिं, व्याहरणं विधेम विदध्मः कुर्मः इति भावः। अत्रायं शास्त्रार्थः—अष्टादशमन्त्रात्मिकेयमुपनिषत् अष्टादशविद्यानां महा तात्पर्यभूतवेदान्तवेद्यपरब्रह्मपरमेश्वरसकलजगदभिन्न-निमित्तोपादानकारणचिदचिद्विशिष्टश्रीसीतारामरूपपरब्रह्मणः प्रतिपदं महिमानमनुवर्णयति। तथा हि–प्रथममन्त्र एव प्रथमचरणेन ईशस्मरणं, द्वितीयेन अचित्स्मरणं, पुनस्तृतीयतुरीयाभ्यां चित्तत्वस्य प्रत्यगात्मनः स्मरणेन तत्वत्रयमसीसधच्छ्रुतिः। एवं भगवत्किङ्कराय जीवाय द्वितीयमन्त्रेण भगवन्निमित्तक- कर्मोपदेशः, तृतीयेन विकर्मणां फलं, तुरीयतो यावदष्टमं विशिष्टाद्वैत बोध्यस्य परमात्मनः महिमानुवर्णनं, षड्भ्यो ज्ञानकर्मसमुच्चयनिर्देशः, द्वाभ्यां भगवद्रूपदर्शनप्रार्थनं, पुनर्द्वाभ्यां प्रपत्तिपर्यालोचना। चिज्जीवः अचित् प्रकृतिः ताभ्यां विशिष्टं ब्रह्म कारणकार्यभेदाभ्यां द्वेधा तयोरद्वैतमिति कारणं ब्रह्म परमव्योमसाकेताधिवासि श्रीसीतारामाख्यं, कार्यं ब्रह्म अन्तर्यामि सर्वभूतमधितिष्ठत्। विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्, इत्येव श्रीवैष्णवाम्नायः, स च श्रौत एव सकलोपनिषच्छिखामणिभूतायाः ईशावास्योपनिषदः परमतात्पर्यभूतत्वात् एतस्याः प्रतिमन्त्रेण सुगमतया यथाक्षरार्थं प्रतिपादितत्वात्।

वेदार्थस्तु—

जानन्मदीयं दुरितं हुताशः स्वामिन्सुमार्गेण नयार्तबन्धो।
अस्मच्च पापानि वियोजयेथाः भूयो मुहुस्त्वां प्रणमाम राम।।

रामानन्दाचार्यपदाम्बुजरेणुमयः,
राघवकृपासुभाष्यमभाषे सूक्ष्ममतिः।
श्रीगीताश्रुतिशास्त्रसमन्वितबोधमयम्
श्रीसीतापतितुष्ट्यै तुलसीपीठपतिः।।

इति श्रीचित्रकूटस्थ सर्वाम्नायश्रीतुलसीपीठाधीश्वरश्रीमज्जगद्गुरू श्रीरामानन्दाचार्यश्रीरामभद्राचार्यकृतौ ईशावास्योपनिषदः श्रीराघवकृपाभाष्यं सम्पूर्णम्।

।। **श्रीराघवोः शन्तनोतु** ।।

●

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

ईशावास्योपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

श्री ईशावास्योपनिषद् का
पदवाक्यप्रमाणपारावारीण-
कवितार्किकचूडामणि वाचस्पति-
श्री जगद्गुरूरामानन्दाचार्य स्वामि रामभद्राचार्य-
प्रणीत श्रीमज्जगद्गुरूरामानन्दाचार्यसम्प्रदायानुसारि
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-प्रतिपादक श्रीराघवकृपाभाष्य ।।

।। श्रीमद्राघवो विजयतेतराम् ।।

।। श्रीरामानन्दाचार्याय नमः ।।

ईशावास्योपनिषद्

श्रीराघवकृपाभाष्य

।। मंगलाचरणम् ।।

कौसल्यास्तनपानलालसमना मन्दस्मितोऽव्यक्तवाक्,
एकं ब्रह्मगुडालकाव्रतमुखाम्भोजो घनश्यामलः।
खेलन्-पंक्तिरथाजिरे रघुपतिर्बालानुजैः सुन्दरो,
देवो धूलिविधूसरो विजयते रामो मुकुन्दः शिशुः।।१।।

मन्दाकिनीवीचिनिबद्धदृष्टिम्
सीतामुखाम्भोरुहभृङ्गचित्तम्।
सलक्ष्मणं बाणधनुर्दधानम्
रामं श्रये संश्रितचित्रकूटम्।।२।।

ध्वस्तध्वान्तोऽस्मि लब्धार्थो यत्कृपामिहिरत्विषा।
रामानन्दमहं वन्दे स्वाचार्यं तं जगद्गुरुम्।।३।।

श्रीराघवकृपाभाष्यं नत्वा श्रीवैष्णवानहम्।
ईशावास्योपनिषदः भाषे सीतापतेर्मुदे ।।४।।

सीतारामपदारविन्दरज सादर शिर धरि
रामानन्दाचार्यचरणपंकज प्रणाम करि।
सद्गुरुदेव सकल वैष्णव पदरज धरि सीसा
बार-बार कर जोरि विनइ हनुमान कपीशा ।।
रामभद्र आचार्य अब भाष्य राष्ट्रभाषा करे
ईशावास्य सुमन्त्रको सम्प्रदाय हित चित धरे।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

रा०कृ०भा० (सरलार्थ)– वह अर्थात् अवतारी साकेत, गोलोक तथा वैकुण्ठ में विराजमान ब्रह्म पूर्ण है, एवम् 'इदम्' अर्थात् यह श्रीरामकृष्णादि रूप में अवतार लेकर भक्तों के नेत्रों का विषय बनने वाला ब्रह्म भी पूर्ण है। अवतारी पूर्ण ब्रह्म से यह अवतार पूर्ण ब्रह्म श्रेष्ठ है, क्योंकि अवतार लेकर ही परब्रह्म सनातन धर्म की रक्षा एवं भक्तों का संकल्प पूर्ण करता है। साकेतादि लोकों में रहने वाले पूर्ण ब्रह्म के पूर्ण ऐश्वर्यादि को प्राप्त करके अवतार काल में भी ब्रह्म पूर्ण ही रहता है, अर्थात् अवतारी एवं अवतार में थोड़ा-सा भी शक्तियों का तारतम्य नहीं होता। उस पूर्ण परमेश्वर की कृपा से परमेश्वर के शरणागत, जाग्रत्-स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में शान्ति का अनुभव करते रहें। यह ऋषि का आशीर्वाद है।। श्री ।।

विशेष– जिनके वामभाग में जनकनन्दिनी श्रीसीता जी विराजमान हैं, तथा जो सदैव श्री भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न एवं श्रीहनुमानजी आदि नित्य परिकरों द्वारा सेवित होते रहते हैं, ऐसे नीले बादल के समान श्याम लोकाभिराम भगवान् श्रीराम सदैव वैकुण्ठादि नामों से प्रसिद्ध श्रीसाकेतलोक में विराजमान रहते हैं। वे ही पतितपावन श्री सीतारामजी प्रत्येक कल्प के सातवें मन्वन्तर के चौबीसवें त्रेतायुग में वैदिक धर्म की रक्षा के लिये भौमसाकेत श्री अयोध्या में श्री दशरथ-कौसल्या के यहाँ अवतार लिया करते हैं।। श्री ।।

वैदिक सनातन धर्म चातुर्वर्ण्य मर्यादा से युक्त है, अत एव भगवान् जानकीवल्लभ श्रीराम इसकी सदैव रक्षा करते हैं। इन्हीं महाविष्णु श्रीराम के श्वासस्वरूप चारों वेदों में यजुर्वेद कर्मकाण्ड प्रतिपादक माना जाता है, इसी शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयी माध्यन्दिनी शाखा संहिता का चालीसवाँ अध्याय ''ईशावास्य उपनिषद्'' के नाम से जाना जाता है।। श्री ।।

यद्यपि सभी श्रुतियाँ अपने प्राणपति भगवान् को ही साक्षात् अथवा परम्परा सम्बन्ध से गाती हुई उन्हीं परमेश्वर में अपना तात्पर्य निश्चित करती हैं, फिर भी ज्ञानकाण्ड की श्रुतियाँ अन्तरंग पत्नी की भाँति परमात्मा से साक्षात् सम्बन्ध से जुड़ने के कारण उपनिषद् नाम से जानी जाती हैं। ''उप निषीदन्ति इति उपनिषदः'' अर्थात् जो परमात्मा से चिपककर बैठती हैं, वे ही उपनिषद् हैं। अनेक उपनिषदों के होने पर भी ईशावस्य उपनिषद् को सर्वप्रथम तथा श्रेष्ठ उपनिषद् माना गया है। इसीलिये इस पर अनेक पूर्वाचार्यों ने अंपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार भाष्य-व्याख्यायें लिखीं। मैं भी भगवान् श्रीसीताराम जी की कृपा से इस उपनिषद् पर श्रीरामानन्द श्रीवैष्णवसम्प्रदायानुमोदित विशिष्टाद्वैतपरक श्रीराघवकृपाभाष्य का प्रणयन कर रहा हूँ।। श्री ।।

प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में लोककल्याण की कामना से ऋषि शान्तिपाठ मन्त्र पढ़ते हैं, ईशावास्य उपनिषद् में भी ''पूर्णमदः'' इत्यादि शान्तिपाठ पढ़ा गया है। ''ओम्'' यह प्रणव परब्रह्म का वाचक है। यही एकाक्षर ब्रह्म होने से प्रत्येक श्रुति के प्रारम्भ में उच्चरित किया जाता है। पुराणमत से ओङ्कार ब्रह्माजी के कण्ठ को भेद कर सर्वप्रथम उच्चरित हुआ, इसीलिये इसको मांगलिक माना गया है। भगवान् भी इसका प्रणवन अर्थात् स्तवन करते हैं, इसीलिये इसे प्रणव कहा जाता है। सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् इसी प्रणव का व्याख्यान है। इसी के अकार में विराट्, उकार में हिरण्यगर्भ, मकार में प्राज्ञ, तथा तुरीय अर्धमात्रा में तुरीय परब्रह्म भगवान् विराजते हैं। पौराणिक लोग अकार में विष्णु, उकार में ब्रह्मा, मकार में शङ्कर तथा अर्धमात्रा में महाविष्णु का ध्यान करते हैं।। श्री ।।

दार्शनिक लोग अकार, उकार, मकार इन तीनों वर्णों में सात्विकी, राजसी, तामसी इन तीन वृत्तियों का समाहार मानते हैं। वैदिक लोग इन्हीं वर्णों में तीनों वेदों को, कुछ लोग इन्हीं में ''भूर्भुवः स्वः'' इन तीनों भुवनों को, और कुछ लोग तीनों देवताओं को समाहित मानते हैं। यह व्याख्या

प्रणव के सखण्ड पक्ष के आधार पर की गयी। वास्तव में ओङ्कार का समस्तता पक्ष अर्थात् अखण्ड एकाक्षरता पक्ष ही पारमार्थिक सत्यपक्ष है। इस पक्ष में यह ओङ्कार प्राकृत गुणों से रहित समस्त कल्याण गुणगणों के सागर सीतापति श्रीराम का ही गुणानुवाद करता है ॥ श्री ॥

जैसा कि महिम्नस्तोत्र के अट्ठाइसवें श्लोक में पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं, हे भक्तों के शरणदायक प्रभो! तीन सूक्ष्म ध्वनियों से युक्त ओङ्कार, तीन वेद, तीनों वृत्तियों, तीनों देवताओं को कहता हुआ समस्त एवं व्यस्तरूप से आपके तेजोमय तुरीय रूप को कह कर सदैव आप को ही गाता रहता है। भगवान् पाणिनि भी ओम् शब्द को अखण्डपद मानते हुये वाक्यस्फोट-विधि से ही व्याख्या करते हैं। दाक्षिपुत्र आचार्य पाणिनि "अव्" धातु से औणादिक डोम् प्रत्यय कर के भसंज्ञा के विना भी डित्व सामर्थ्य से वकार का लोप कर के ओम् शब्द की सिद्धि करते हुये "अव्" धातु के १९ अर्थों को कण्ठतः पढ़ कर ओम् शब्द से सगुणब्रह्म श्रीराम का ही व्याख्यान करते हैं। भगवद्भक्ति का रसास्वादन करने के लिये, ओम् शब्द में लोगों की श्रद्धा बढ़ाने के लिये, तथा स्वान्तःसुख के लिये भी यहाँ ओम् शब्द की व्युत्पत्ति माधुरी प्रस्तुत कर रहा हूँ, जिससे मन ओम् शब्द के अर्थरूप सम्पूर्ण वेदों के तात्पर्य श्री सीतापति श्रीराम में अनायास ही रम जाये। महर्षि पाणिनि ने "अव्" धातु के उन्नीस (१९) अर्थ कहे हैं, इसीलिये उसी "अव्" धातु से सिद्ध हुये ओम् शब्द के उन्हीं उन्नीस अर्थों को क्रम से संगत करने का प्रयास करूँगा ॥ श्री ॥

जैसा कि— "अव्" धातु से "अवतेर्डोम्" औणादिक सूत्र से डोम् प्रत्यय करके डित्व के सामर्थ्य से भसंज्ञा के विना भी "अव्" धातु के अवयव वकार का लोप करके पुनः अकार को पद मानकर "ओमाङोश्च" इस सूत्र से पररूप करके भगवान् पाणिनि भी "अव्" धातु के उन्नीस अर्थों के आधार पर ओम् शब्द को सगुण साकार परब्रह्म श्रीराम का ही वाचक सिद्ध करते हैं ॥ श्री ॥

(१) "अव् रक्षणे" "अवति भक्तान् रक्षति इति ओम्", जो अपने भक्तों की रक्षा करते हैं वे भगवान् राम ही ओम् के वाच्य हैं, महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं "रक्षिता जीवलोकस्य" अर्थात् भगवान् राम समस्त जीवलोक के रक्षक हैं ॥ श्री ॥

(२) ''अव् गतौ'' अव् धातु का गमन भी अर्थ है, ''अवति भक्तसमीपं गच्छति इति ओम्'' जो भक्तों के प्रेम परतन्त्र होकर उनके समीप चले जाते हैं वे भगवान् राम ही ओम् हैं। श्रुति भी कहती है— ''तदेजति तन्नैजति'' अर्थात् भगवान् अपने प्रेमी भक्तों के पास जाते हैं और विमुखों से दूर रहते हैं॥ श्री॥

(३) ''अव् कान्तौ'' ''अवति कान्तिमान् भवति इति ओम्'' जो निरन्तर सुन्दर लगते हैं उन भगवान् को ही ओम् कहते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने भी प्रभु श्रीराम को सदैव प्रियदर्शन कहा है, ''सदैव प्रियदर्शनः'' (वा०रा० १-१-१६), भगवान् का सौन्दर्य सनकादि मुनियों के नेत्र और मन को चुरा लेता है, अतः श्रुति भी कहती है ''स उ श्रेयान् भवति जायमानः'' अर्थात् अवतार लेकर भगवान् बहुत सुन्दर हो जाते हैं॥ श्री॥

(४) ''अव् प्रीतौ'' अव् धातु का प्रीति भी अर्थ है, ''अवति प्रीयते इति ओम्'' जो शरणागतों पर प्रेम करते हैं, वे प्रभु राम ही ओम् हैं। स्वयं भगवान् गीता ४-११ में कहते हैं कि— जो मुझे जैसे प्रपन्न होते हैं मैं उन्हें उसी भाव से भजता हूँ॥ श्री॥

(५) ''अव् तृप्तौ'' अव् धातु का तृप्ति भी अर्थ है, ''अवति तृप्यति इति ओम्'' भगवान् अपने भक्तों की निष्किञ्चन-भक्ति-भावना से तृप्त हो जाते हैं, अतः वे ही ओम् हैं। भगवान् की भक्त पर तृप्ति की बहुत सी गाथायें श्रीरामायण आदि आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध होती है॥ श्री॥

(६) ''अव् ज्ञाने'' ज्ञानार्थ में भी अव् धातु का पाठ है, ''अवति जानाति भक्तमनोरथान् यः सः ओम्'' भगवान् भक्तों के मनोरथों को जानने के कारण ही ओम् हैं, उनकी सर्वज्ञता तथा मनोरथों की अभिज्ञता की बहुत सी कथायें प्रसिद्ध हैं, ''यः सर्वज्ञः सर्ववित्''। उनके उदाहरण हैं अहल्योद्धरण, निषादमैत्री, शवरी के यहाँ फलभक्षण, विदुर के यहाँ शाकभोजन, चन्द्रहास की प्राणरक्षा इत्यादि॥ श्री॥

(७) ''अव् प्रवेशने'' प्रवेश अर्थ में भी अव् धातु पठित है, ''अवति भक्तमनांसि प्रविशति इति ओम्'' भगवान् भक्त के मन में अवन अर्थात् प्रवेश करते हैं, अत एव वे ओम् कहे जाते हैं। श्रीरामायण में सुतीक्ष्ण का अतिशय प्रेम देखकर भगवान् ने उनके मन में प्रवेश किया। यथा—

अतिसय प्रेम देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भवभीरा॥

—(मानस- ३-१०-१४)

महाभारत में श्रीद्रौपदी की ऋतुकालजनित अपवित्रता की कोई चिन्ता किये विना ही उनकी लाज बचाने के लिये प्रभु ने कृष्णा की साड़ी में प्रवेश किया। जैसा कि महाभारत सभापर्व (६७-४६) में भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं, जब अपनी लाज बचाने के लिये द्रौपदी कृष्ण, विष्णु, हरि, नर कहकर भगवान् श्रीकृष्ण को रोती हुई पुकारने लगी तभी धर्मरूप भगवान् ने द्रौपदी के वस्त्र में प्रविष्ट होकर उन्हें विविध वस्त्रों से ढक दिया।

कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैश्च वस्त्रैः ॥

—*(म०भा० सभापर्व- ६७-४६)*

इस श्लोक में प्रयुक्त 'अन्तरितः' शब्द बड़े ही महत्व का है। संस्कृत में अन्तर शब्द साड़ी के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है, भगवान् पाणिनि बहिर्योग तथा उपसंख्यान याने वस्त्र के अर्थ में अन्तर शब्द को प्रथमा बहुवचन में विकल्प से सर्वनाम मानते हैं, "अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयोः" (पा० अ० १-२-३६) "अन्तरे अन्तरा वा शटकाः" (सि० कौ० अजन्तपुंल्लिङ्ग) इस प्रकार वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुये अन्तर शब्द से आचारार्थ क्विबन्त से तिप् प्रत्यय और उसी अन्तरित के भूतकाल में कर्ता के अर्थ में "क्त" प्रत्यय करके अन्तरितशब्द सिद्ध होता है, "अन्तर इव आचरत् इति आन्तरत्, आन्तरत् इति अन्तरितः" जिसने अपने को स्वयं वस्त्र रूप में बदल लिया वे परमात्मा ही यहाँ 'अन्तरितः' शब्द से कहे गये हैं। इसी प्रसंग से द्रौपदी के वस्त्र में भगवान् का प्रवेशावतार सिद्ध होता है॥ श्री ॥

अतः गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपनी रचना दोहावली में इस वस्त्रावतार को भगवान् के ग्यारहवें अवतार के रूप में देखा है। यथा—

सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ।
तुलसी धर्‌यो इगारहूँ वसनरूप यदुनाथ॥

—*(दोहावली- १६८)*

(८) "अव् श्रवणे" अवति शृणोति इति ओम्" अव् धातु का श्रवण भी अर्थ है,अवति अर्थात् जो भक्तों की करुण पुकार सुनते हैं, वे राघव तथा माधव ही ओम् हैं। भगवती श्रुति भी कहती हैं— प्रभु विना कर्णेन्द्रिय

का प्रयोग किये ही सुन लेते हैं, "स शृणोत्यकर्णः"। रामायण एवं महाभारत में भक्तों के करुणक्रन्दनश्रवण के अनेक भगवत् प्रसंग प्रसिद्ध हैं।। श्री ।।

(९) "अव् स्वाम्ये" अव् धातुका स्वामित्व स्थापन भी अर्थ है, भगवान् सबके शासक हैं, ऐसा श्रुति भी कहती है— "सर्वस्य वशी" "सर्वस्येशानः" (गीता- १५-१७) में भी कहा गया है कि— भगवान् तीनों लोकों को अपनी महिमा से आविष्ट करके भरण-पोषण किया करते हैं। "अवति स्वामित्वं करोति इति ओम्" भगवान् सबके स्वामी होने से ओम् कहे जाते हैं।। श्री ।।

(१०) "अव् करणे" अव् धातु का करना भी अर्थ है, "अवति करोति इति ओम्" भगवान् अपने भक्त का योगक्षेम वहन करते हैं, तथा समस्त संसार का सर्जन, पालन तथा संहार करते हैं, इसीलिये उन्हें ओम् कहा जाता है।। श्री ।।

(११) "अव् इच्छायाम्" "अवति इच्छतीति ओम्" भगवान् अपने भक्तों को आनन्द देने के लिये अवतार लेने की इच्छा करते हैं, और जगत् के जन्म-स्थिति-संहार की भी इच्छा करते हैं, अत एव श्रुति उन्हें ओम् कहती हैं। यदि कहें कि भगवान् की इच्छा में क्या प्रमाण है ? तो "सोऽकामयत्" यह श्रुति "स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि" (भागवत- १०-१४-४) स्मृति "निज इच्छा निर्मित तनु" (मानस- १-१-९२) इत्यादि अनेक प्रमाण हैं।। श्री ।।

(१२) "अव् दीप्तौ" "अवति दीप्यते इति ओम्" जो अवति अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित होते रहते हैं वे परमप्रकाशरूप परमात्मा ही ओम् हैं। संजय ने भी धृतराष्ट्र से भगवान् के अनन्त सूर्य के प्रकाश की चर्चा गीता में की है। श्रुति भी कहतीं है कि— भगवान् के प्रकाश से समस्त जगत् प्रकाशित है, उन्हें सूर्य, चन्द्र, तारा, अग्नि या विद्युत् कोई भी नहीं प्रकाशित कर सकता।। श्री ।।

"जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ज्ञान गुन धामू।।"

—(मानस- १-११६-७)

(१३) "अव् आलिङ्गने" "अवति आलिंगति इति ओम्" भगवान् अपने प्रिय भक्तों को आलिंगन करते हैं, इसीलिये उन्हें ओम् कहते हैं। श्रुति भी "तदन्तरस्य सर्वस्य" कहकर भगवान् का आलिंगन प्रमाणित करती है। "समानं वृक्षं परिषस्वजाते" श्रुति में भगवान् का परिष्वङ्ग अर्थात् आलिंगन कण्ठ से

ही दिया गया। वैदिक सिद्धान्तों के व्याख्यानरूप रामायण, महाभारत तथा पुराणों में भगवान् के आलिंगन के सहस्रों प्रसंग उपलब्ध हैं। वाल्मीकीय रामायण युद्धकाण्ड में तो भगवान् राम स्पष्ट कहते हैं कि— आज मैंने उचित समय पाकर अपने सर्वस्वरूप आलिंगन को श्रीहनुमान के लिये समर्पित कर दिया (वा०रा० ६-१-१३)।। श्री ।।

(१४) ''अव् आदाने'' अव् धातु का आदान अर्थात् ग्रहण भी अर्थ है, ''अवति आदत्ते इति ओम्'' जो भक्तों द्वारा दिये हुये पत्र, पुष्प, फल, जल आदि सगुणसाकार होकर स्वीकार करते हैं, वे प्रभु ही ओम् हैं। ''अपाणिपादोजवनो गृहीता'' यह श्रुति प्रमाण है। और (गीता- ९-२६) में भी भगवान् भक्त द्वारा उपहृत पत्र-पुष्प-फल-जल के स्वीकार की प्रतिज्ञा भी करते हैं।। श्री ।।

(१५) ''अव् दाने'' ''अवति ददाति अभीप्सितं भक्तेभ्य: इति ओम्'' जो भक्तों को मनोवाञ्छित प्रदान करते हैं, वे प्रभु ओम् हैं। अत: भगवान् गीता में कहते हैं ''ददामि बुद्धियोगं तम्'' (गीता- १०-१०)।। श्री ।।

(१६) ''अव् हिंसायाम्'' हिंसा भी अव् धातु का अर्थ है, भगवान् भक्त के दोष और पाप नष्ट कर डालते हैं, अत: उन्हें ओम् कहते हैं। ''अवति हिनस्ति भक्तदोषान् पापानि च य: स: ओम्'' (भागवत- ११-५-४२)। नौ योगेश्वर महाराज नेमि से कहते हैं कि— अपने चरणकमलों का भजन करने वाले अनन्य भक्त के हृदय में विराजकर भगवान् उसके समस्त विरुद्ध कर्मों को समाप्त कर डालते हैं।। श्री ।।

(१७) ''अव् विभागे'' अव् धातु का विभाग भी अर्थ है, ''अवति विभजत इति ओम्'' जो अन्तर्यामिरूप से प्रत्येक शरीर में अपने को विभक्त करके विराजते हैं, वे परमात्मा ओम् हैं। इसमें बृहदारण्यक का अन्तर्यामि ब्राह्मण ही प्रमाण है।। श्री ।।

(१८) ''अव् वृद्धौ'' अव् धातु का वृद्धि अर्थात् बढ़ना अर्थ है, ''अवति वर्धते इति ओम्'' जो बलि का मद भंग करने के लिये वामन से विराट् होकर बढ़ जाते हैं वे परमात्मा विराट् ओम् हैं, इसीलिये उन्हें ब्रह्म कहते हैं।। श्री ।।

(१९) ''अव् वर्धने'' ''अवति वर्धयति इति ओम्'' जो अपने भक्तों को सबसे बड़ा बना देते हैं वे सर्वगुणसम्पन्न भगवान् ही ओम् हैं। इस

प्रकार अव् धातु से निष्पन्न उन्नीस व्युत्पत्तियों द्वारा ओम् शब्द के परम तात्पर्य रूप में भगवान् राम ही सिद्ध होते हैं ।। श्री ।।

रक्षणगमन कान्ति प्रीति के भी वाच्य प्रभु,
परम कृपालु जनतृप्ति अभिधार्थ हैं।
ज्ञान औ प्रवेशन सुजन विपदा श्रवण,
सकल त्रिलोक स्वामिभाव सुसमर्थ हैं।
जगत जनन भवलय के कारणहार,
इच्छा दीप्ति आलिंगन दानादान स्वर्थ हैं।
पाप हिंसा भागवृद्धि संगत प्रणव वाच्य,
रामभद्र में समस्त ये उन्नीस अर्थ हैं ।। श्री ।।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

शब्दार्थ– 'ओम्' पूर्वोक्त उन्नीस अर्थों में वाच्य सगुण साकार परमेश्वर "अदः" वह सर्वावतारी साकेतविहारी परमात्मा "पूर्णम्" पूर्ण है। "इदम्" यह अतिसमीपवर्ती श्रीरामकृष्णादि रूपों में अवतीर्ण परमात्मा, 'पूर्णम्' पूर्ण है। "पूर्णात्" पूर्ण अवतारी परब्रह्म की अपेक्षा 'पूर्णम्' अवतार लेकर पृथिवी पर आया हुआ रामकृष्णादि रूपों में वर्तमान पूर्णब्रह्म, 'उदच्यते' उत्कृष्टतया पूजित होता है। 'पूर्णस्य' साकेतलोकादि में रहने वाले अवतारी पूर्णब्रह्म के 'पूर्णम्' पूर्ण षडैश्वर्य को "आदाय" प्राप्त करके "पूर्णम् एव अवशिष्यते" अवतार दशा में भी पूर्ण ब्रह्म पूर्ण ही रहता है ।। श्री ।।

भावार्थ– सभी अवतारों का अवतारी वह "अदः" अर्थात् मानव की कल्पना से अत्यन्त दूर परमव्योम साकेतादि लोकों में विराजमान परब्रह्म पूर्ण है, अर्थात् ज्ञानादि ऐश्वर्य से सम्पन्न है। उसी प्रकार "इदम्" अर्थात् अवतार लेकर श्रीरामकृष्णादि रूपों में यह याने सबके नेत्रों का विषय बना हुआ परब्रह्म भी पूर्ण ही है। इस श्रुति से स्पष्ट हो जाता है कि अवतारी और अवतार में कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। परन्तु साधक की दृष्टि में पूर्ण अवतारी ब्रह्म से पूर्ण अवतार बह्म "उदच्यते" उत्कृष्ट है। क्योंकि अवतारी की अपेक्षा अवतार ब्रह्म में सुलभता-पतितपावनता-दीनबन्धुत्व-भक्तवत्सलता आदि गुण अधिक हैं। यदि ब्रह्म अवतार न ले तो शवरी-जटायु-श्रीहनुमान-

व्रजाङ्गना-विदुर आदि के मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकेंगे ? क्या साकेतविहारी श्रीराम से केवट चरण धुलाने का हठ करेगा ? क्या गोलोकविहारी श्रीकृष्ण को गोपियाँ छछिया भरी छाछ पर नाच नचा सकेंगी ? उसी पूर्ण अवतारी ब्रह्म के सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त कर यह ब्रह्म अवतार काल में भी पूर्ण ही रहता है। अर्थात् अवतार लेकर भी भगवान् अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते ।। श्री ।।

विशेष– यहाँ 'अद:' शब्द दूर अर्थात् वाणी-मन से परे निर्लीनगुणक साकतविहारी अवतारी ब्रह्म का बोधक है। "इदं" शब्द सगुण स्वरूप समीपवर्ति सबके नेत्रों के विषय बने हुये अवधविहारी भगवान् श्रीराम, एवं वृन्दावनविहारी श्रीकृष्णचन्द्र का वाचक है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, दोनों ही पूर्ण हैं। जब भगवान् अपने गुणों को छिपा लेते हैं तभी उन्हें निर्गुण का जाता है, "निर्लीना: गुणा: यस्मिन् तन्निर्गुणम्" और जब भक्तों के उपयोगी गुणों को प्रकट करते हैं, तब वे सगुण कहे जाते हैं। वस्तुत: गुणों का भगवान् से स्वरूप सम्बन्ध है, जैसे जल अपनी मधुरिमा को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार भगवान् चाह कर भी अपने गुणों को नहीं छोड़ सकते। सौन्दर्यादि निरतिशयकल्याणगुणगण परमात्मा के स्वभावसिद्ध उपकरण हैं। अत एव निर्गुण या अवतारी पूर्ण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण अवतार ब्रह्म भक्तों द्वारा उत्कृष्ट भावना से पूजा जाता है। क्योंकि सगुण ब्रह्म ही भक्तों की सभी समस्याओं का निवारण कर सकता है। जो लोग "उदच्यते" शब्द का निकलना अर्थ मानकर ऐसा अर्थ करते हैं कि— "पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण जीव निकला है" उनसे यह पूछना चाहिये कि उन्होंने "उत् उपसर्गपूर्वक "अञ्चु" धातु से कर्मवाच्य लट्लकार में निष्पन्न "उदच्यते" शब्द का "निकलता है" यह कर्तृवाच्य अर्थ कैसे स्वीकारा ? क्योंकि "गम्" धातु के साथ "निर्" उपसर्ग जोड़ने पर ही निकलना अर्थ किया जा सकता है। जैसे 'निर्गच्छति, "निर्याति"। उत् पूर्वक "गम्" धातु का उत्कृष्ट गमन या ऊपर गमन अर्थ होता है,वह भी कर्तृवाच्य में। कभी-भी "बालक जाता है" शब्द का "बालक: गम्यते" अनुवाद नहीं करता, और न ही इस अर्थ से वैयाकरण सहमत होता है। अत: पूजनार्थक सकर्मक "अञ्चु" धातु के कर्मवाच्य में निष्पन्न "पूर्णम् उदच्यते" शब्दखण्ड का उत्कृष्ट पूजन फलाश्रय अर्थ ही करना चाहिये। अर्थात् निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा उत्कृष्ट मानकर ही भक्तों द्वारा सगुण ब्रह्म

पूजित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण भी श्रीगीता जी के बारहवें अध्याय के पूर्वार्ध में निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा सगुण ब्रह्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं। और श्रुति भी कहती है— "स उ श्रेयान् भवति जायमान:" अर्थात् अवतार लेकर भगवान पूर्व से अधिक सुन्दर लगने लगते हैं। मानस युद्धकाण्ड में देवराज इन्द्र कहते हैं— भले कोई वेदवेद्य-अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करे परन्तु मुझे तो सगुणस्वरूप अयोध्याधिपति भगवान् श्रीराम ही अधिक भाते हैं—

को ब्रह्म निर्गुण ध्याव अव्यक्त जेहिं श्रुति गाव।
मोहि भाव कोसल भूप श्रीराम सगुण स्वरूप।।

—*(मानस-* ६-११२-७)

वस्तुत: यदि "अद:" पद से ब्रह्म और "इदं" पद से जीवरूप अर्थ स्वीकार लिया जाय तो स्वीकार करने वाले महोदय के ही प्राणप्रिय पक्ष अद्वैत की ही हानि हो जायेगी। क्योंकि समानरूप से दो पूर्ण सत्ता स्वीकार लेने पर अपने आप द्वैत आ जायेगा। 'पूर्ण से पूर्ण निकलता है', अर्थ स्वीकारने पर परमात्मा अंशी और जीव अंश है इस सिद्धान्त की भी हत्या हो जायेगी। क्योंकि अब तो दोनों ही अपूर्ण हो जायेंगे। अत: मेरी व्याख्या ही शास्त्रसम्मत है। ऐसे पूर्ण ब्रह्म के पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त कर सगुण ब्रह्म पूर्ण ही रहता है, अर्थात् अवतार काल में भी ईश्वर में अपूर्णता नहीं आती और उस निर्गुण सगुणरूप परब्रह्म का पूर्ण कृपाप्रसाद प्राप्त कर यह जीवजगत भी "पूर्ण" अर्थात् पूर्णकाम हो जाता है और प्रलय में भी नष्ट नहीं होता।। श्री।।

सम्बन्ध भाष्य– अब शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेय माध्यन्दिनी शाखा संहिता के चालीसवें अध्याय पर राष्ट्रभाषा में श्रीराघवकृपाभाष्य प्रस्तुत किया जा रहा है। इससे पहले उन्तालीस अध्यायों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन किया गया। इस चालीसवें अध्याय में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन होने से इसे उपनिषद् कहते हैं। उपनिषद् का अर्थ है समीप या चिपककर बैठनेवाली "उप निषीदति, उपश्लिष्य नितरां तिष्ठति इत्युपनिषत्", आशय यह है कि सभी श्रुतियाँ भगवान् की पत्नियाँ हैं। जैसे बहुत सी पत्नियों में कुछ बहिरंग सेवा में रहती हैं, तथा कुछ अन्तरंग सेवा में पति की प्रिय बन जाती हैं। उसी प्रकार कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड की श्रुतियाँ बहिरंग वधुओं की भाँति भिन्न-भिन्न देवों के प्रतिपादन के बहाने भगवान् का परम्परया

प्रतिपादन करती हैं, तथा ज्ञानकाण्डीय श्रुतियाँ अन्तरंग पत्नी की भाँति प्रभु का साक्षात् प्रतिपादन करने से परमेश्वर के समीप उनसे सटकर बैठने का सौभाग्य प्राप्त करके उपनिषद् नाम से जानी जाती हैं। उनमें से यह सर्वप्रथम तथा ''ईशावास्य'' शब्द से प्रारम्भ किये जाने से ''ईशावास्य'' उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है॥ श्री॥

ॐ ईशांवास्यमिदम ँ् सर्वं यत्किंञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्येक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥१॥

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ– ''जगत्याम्'' ''इस पृथ्वी पर ''यत् किंच'' जो कुछ भी दिख रहा है, ''इदं सर्वं'' यह सब, ''जगत्'' जड़-चेतनात्मक संसार, ''ईशावास्यम्'' ईश्वर द्वारा आच्छादित है, अथवा ईश्वर का निवास रूप है। ''तेन'' इसलिये 'त्यक्तेन भुञ्जीथा:'' त्यागपूर्वक भोग करो, अथवा ''तेन'' उस ईश्वर द्वारा ''त्यक्तेन'' अपने लिये दिये हुये उपकरणों द्वारा ही ''भुञ्जीथा:'' शरीर का निर्वाह करो। ''कस्यस्विद् धनम्'' किसी के भी धन का ''मा गृध:'' लोभ मत करो॥ श्री॥

भावार्थ– भगवती श्रुति कहती है— हे जीव! इस पृथिवी पर जो कुछ भी जड़-चेतनात्मक जगत् दिख रहा है, वह सब ईश्वर का निवास स्थान है। इसीलिये उन्हीं परमात्मा द्वारा कृपापूर्वक दिये हुये साधनों को प्रसाद मानकर शरीर चलाने के लिये ही आहार-विहार आदि करो। किसी के भी धन पर लालच मत करो, क्योंकि धन किसी का भी नहीं होता॥ श्री॥

विशेष– इस मन्त्र में 'ईश' शब्द से ईश्वर 'इदं' शब्द से अचित् तथा 'भुञ्जीथा:'' शब्द से चित् इन तीनों तत्वों का संकेत करके श्रुति ने विशिष्टा-द्वैतावाद की वैदिकता पर मुहर लगाते हुये उसकी परम प्रामाणिकता सिद्ध की है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव-जगत्-जगदीश ये तीन तत्व हैं, इन्हीं को दार्शनिक भाषा में चित्-अचित् और विशिष्ट कहा जाता है। चित् अर्थात् जीव तथा अचित् याने प्रकृति ये दोनों ही परमात्मा के विशेषण हैं इनसे परमात्मा का शरीरशरीरिभावसम्बन्ध है। ब्रह्म कार्यकारण भेद से दो प्रकार का है, कारण ब्रह्म वह जो साकेतादि लोकों में विराजमान हैं, तथा सबका व्यापक और सबसे परे हैं। कार्य ब्रह्म इस जीव जगत् से जुड़ा हुआ अन्तर्यामी रूप से सबके साथ है। ये दोनों ही कार्यकारण ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट होते हुए तत्वत: एक ही हैं, इनमें द्वैत नहीं है, अत:

इन दो (कार्यकारण ब्रह्म) अर्थात् विशिष्टों का अद्वैत ''एकत्व'' होने से इस सिद्धान्त को विशिष्टाद्वैतवाद कहते हैं।। श्री ।।

विशिष्टं च विशिष्टं च ब्रह्मणी कार्यकारणे।
तयोरद्वैतमित्येतत् विशिष्टाद्वैतमुच्यते ।।

श्रीसीताराम ही विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपाद्य हैं। अत: श्रीरामानन्दाचार्य का अभिमत दर्शन सीताराम विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन ही है। हमारे यहाँ सीताजी भी श्रीराम से अभिन्न ब्रह्मतत्व ही हैं, एक ही ब्रह्म वात्सल्यावच्छिन्नचैतन्य संविदानन्द बन कर श्रीसीतारूप में प्रकट होता है, और वही सौन्दर्य मिश्रित माधुर्यावच्छिन्नचैतन्यसच्चिदानन्द बन कर श्रीराम रूप में प्रकट होता है। यही श्रीरामानन्दश्रीवैष्णवसम्प्रदाय की उपासना का अन्तरंग रहस्य है।। श्री ।।

''ईशावास्यम्'' इस पद में पूर्वाचार्यों ने 'ईशा' 'आवास्यम्' ये दो पद माने हैं। 'ईशा' शब्द हलन्त ईश् शब्द से तृतीया एकवचन का रूप है, 'आवास्यम्' शब्द में 'तव्य' के अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय हुआ है, इस प्रकार उनके मत में यह सम्पूर्ण जगत् ईश् अर्थात् परमात्मा द्वारा आवास्य अर्थात् आच्छादनीय है। तात्पर्य यह है कि सारा संसार ईश्वर के द्वारा ढकने योग्य है। परन्तु इस अर्थ से मैं सहमत नहीं हूँ, यह व्याख्या सुनने में ही कितनी अटपटी लग रही है। पहली बात तो यह है कि यहाँ भविष्यत् काल का औचित्य क्या है ? इस जगत् को अब तक ईश्वर ने क्यों नहीं ढक लिया ? और उस स्वतन्त्र परमात्मा के लिये विधेयता का निर्देश करने वाले हम होते ही कौन हैं ? आचार्य शिष्य को कह सकता है— 'त्वया सन्ध्या कर्तव्या' तुम्हें सन्ध्या करनी चाहिए। पर सामान्य जीव परमात्मा के लिये कहे 'ईशेन जगत् आवास्यम्' 'ईश्वर द्वारा जगत् को आच्छादित कर लेना चाहिये' यह कितना विचित्र लगता है। वस्तुत: मैं यहाँ विनम्रतापूर्वक कहना चाहूँगा कि ''आवास्य'' शब्द में ''बहुलं छन्दसि'' (पा०अ० ३-२-८८) सूत्र से आङ् पूर्वक णिजन्त वस् धातु से कर्मवाच्य भूतकाल क्त प्रत्यय के स्थान पर 'ण्यत्' प्रत्यय हुआ। यहाँ 'आवसितं' के स्थान पर आवास्य शब्द का प्रयोग है, और ईश शब्द हलन्त न होकर अजन्त है। उसी ईश शब्द का आवास्य के साथ तृतीया तत्पुरुष समास हुआ है। 'ईशेन आवास्यम् ईशावास्यम्' ईशेन आवासितम् इत्यर्थ:। अर्थात् यह जगत् जब से परमात्मा द्वारा बनाया गया तभी से उन्हीं ईश्वर द्वारा अपनी महिमा

से आवासित अर्थात् आच्छादित है। जैसे माँ नवजात शिशु को अपने आँचल में ढके रहती हैं, वैसे ही माँ रूप परमात्मा ने जगत् को योगमाया के आंचल से ढका हुआ है। अथवा 'आवास्य' शब्द आच्छादनार्थक 'वस्' धातु से नहीं बना है, यह 'आङ् पूर्वक निवासार्थक भ्वादिगणपठित वस् धातु से बना है। यहाँ 'घञ्' प्रत्यय हुआ है और फिर अत्यन्त स्वार्थिक 'ष्यञ्' प्रत्यय करके 'आवास्य' शब्द बनाया गया है, और ईश शब्द के साथ षष्ठीतत्पुरुष समास किया गया है। ''ईशस्य आवास्यम् ईशावास्यं'' यह सारा जगत् ईश यानी ईश्वर का 'आवास्य' अर्थात् आवास है। स्वार्थिक प्रत्यय का तात्पर्य यह है कि यह जगत् ईश्वर का निरन्तर निवास स्थान है, एक क्षण भी भगवान् इस जगत् को नहीं छोड़ते। जगत् का अर्थ है जो भगवान् से जन्म लेकर फिर उन्हीं में चला जाता है, ''जायते गच्छतीति जगत्'' यदि कहें यहाँ ईश्वर को जीवात्मा से अभिन्न मानकर उसी से जगत् को आच्छादनीय कहा गया तो यह पक्ष भी गलत है। क्योंकि जीवात्मा का परमात्मा से अभेदवाद ही सर्ववेदान्तसम्मत नहीं है। अभेदवाद की स्थापना एक आचार्य ने की और उसका विरोध किया पाँच आचार्यो ने। यदि श्रुति को परमात्मा से जीवात्मा का अभेद स्वीकार होता तो वह तृतीय चरण में ''तेन त्यक्तेन'' न कहकर ''स्वेन त्यक्तेन'' कहती। यहाँ 'आवास्य' शब्द शरीर के अर्थ में भी कहा जा सकता है। ''आवसन्ति सप्तधातवः यत् तत् आवास्यम्'' इसी शरीर में रस आदि सातों धातु निवास करते हैं, इसीलिये इसे आवास्य कहते हैं। ''ईशस्य आवास्यं शरीरम् इति ईशावास्यं'' यह सम्पूर्ण संसार परमात्मा का शरीर है। इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्तर्यामी ब्राह्मण में ''यस्य पृथिवी शरीरम्'' इत्यादि मन्त्रों से पृथिवी से प्रारम्भ करके जीवात्मा पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर कहा गया है। किं बहुना वहाँ तेईस बार परमात्मा के साथ जगत् के शरीर-शरीरिभावसम्बन्ध को अभ्यास के रूप में कहा गया है। महर्षि वाल्मीकि ने भी ब्रह्माजी के माध्यम से जगत् को भगवान् राम का शरीर कहा है— ''जगत् सर्वं शरीरं ते'' (वा० रा० ६-११७-२७) अर्थात् इस पृथिवी पर दृश्यमान समस्त जगत् सर्वसमर्थ परमात्मा का आच्छादन निवासस्थान और उन परमेश्वर का शरीर भी है ॥ श्री ॥

''तेन'' यहाँ तत् शब्द पूर्व में चर्चित और प्रधान तथा बारंबार चर्चित होने से श्रोता और वक्ता की बुद्धि में आये हुये परमात्मा का बोधक

है। क्योंकि सर्वनाम पूर्व, प्रधान तथा बुद्धिस्थ के बोधक होते हैं। ''त्यक्त'' शब्द का अर्थ त्याग नहीं प्रत्युत दिया हुआ समझना चाहिये। श्रुति कहती है कि— उस परमात्मा द्वारा दिये हुये उपकरण से ही जीवन निर्वाह के लिये ''भुञ्जीथा:'' भोग अर्थात् आहार-विहारादि व्यवहार करो। यहाँ कुछ लोग ''तत्'' सर्वनाम को हेतु वाचक तथा ''त्यक्त'' शब्द को त्यागार्थक मानकर ''भुञ्जीथा:'' शब्द में प्रयुक्त भुज् धातु को पालनार्थक मानकर ''इसीलिये त्यागपूर्वक भोग करो अर्थात् अनात्मतत्व को छोड़कर आत्मतत्व का पालन करो।'' इस प्रकार अनर्गल अर्थ करते हैं। परन्तु ''तत्'' शब्द यहाँ कभी भी हेतुवाचक नहीं बन सकता, क्योंकि पूर्व में ''ईश'' शब्द का प्रयोग हो चुका है। जो पूर्व में भी है तथा प्रधान भी और हमारी बुद्धि में स्थित भी। इसी प्रकार ''व्यक्त'' शब्द में अस्वाभाविक भावार्थक ''क्त'' प्रत्यय नहीं करना चाहिये। ''त्यज्'' धातु का अर्थ अतिसर्जन यानी दान है, अत; ''त्यक्त'' शब्द का अर्थ हुआ दत्त यानी दिया हुआ। ''त्यक्तेन'' की तृतीया करण में है, अर्थात् उस परमात्मा द्वारा दिये हुये उपकरण से ही अपना व्यवहार चलाओ। ''भुञ्जीथा:'' भुज् धातु पालन और अभ्यवहार यानी भोजन के अर्थ में प्रसिद्ध है, ''भुजोऽनवने'' (पा०अ०- १-३-६६) सूत्र से अनवन अर्थात् पालन से भिन्न भोजन अर्थ में ही भुज् धातु से आत्मनेपद होता है, अत: ''भुञ्जीथा:'' का अर्थ होगा भोजन करो। माता श्रुति कहती हैं कि— मैं तुम्हें भोजन से मना नहीं कर रही, परन्तु ''तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:'' तुम्हारे पिता परमात्मा ने तुम्हें जितना दिया है उतने ही साधन से अपने भोजन की व्यवस्था करो। ''कस्यस्विद् धनं मा गृध:'' किसी के भी धन को लोभ का विषय मत बनाओ, ''मा गृध:'' नहीं तो गृद्ध हो जाओगे, सिद्ध नहीं बन सकोगे। यहाँ ''स्वित्'' शब्द निरर्थक नहीं है, यह चित् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ''क'' शब्द का ब्रह्मा भी अर्थ होता है, श्रुति कहती है कि तुम्हारे कर्म के अनुसार तुम्हारे पिता परमात्मा ने तुम्हें जितना दिया है उसी में सन्तोष मानो, उससे अतिरिक्त ब्रह्मा के भी धन का लालच मत करो ॥ श्री ॥

संगति– ईशावास्योपनिषद् केवल ज्ञान की प्रतिपादिका नहीं, श्रुतियाँ सार्वभौम होती हैं, अर्थात् भगवान् की भाँति वेदमन्त्रों के भी अनेक आयाम होते हैं, इसीलिये प्रथम मन्त्र में चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा की जगत् में सत्ता का प्रतिपादन करके परमात्मा के दिये हुये साधनों द्वारा ही आहारादि का विधान तथा दूसरों के धन की लालच का निषेध करके भगवती श्रुति अब

द्वितीय मन्त्र से अकर्मण्य के जीवन की इच्छा का नियमन कर रही है। श्रुति का तात्पर्य है कि— जो भी मनुष्य इस संसार में आया है उसे अपने-अपने वर्ण और आश्रम की मर्यादा के अनुसार वेदविहित कर्म करते हुये ही पूर्ण आयु पर्यन्त जीने की इच्छा करनी चाहिये। यदि वर्णाश्रमानुसार वेदविहित कर्मों को करने का सामर्थ्य न हो तब भगवान् से मृत्यु माँग लेनी चाहिये ।। श्री ।।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ् समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेऽतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।२।।

रा०कृ०भा० (सामान्यार्थ)– ''इह'' इस कर्मभूमि संसार में मनुष्य शरीर प्राप्त करके, ''कर्माणि'' अपने-अपने वर्णाश्रमों की मर्यादा अनुसार वेदविहित कर्मों को, ''कुर्वन् एव'' परमेश्वर के चरणों में फल समर्पण की बुद्धि से निष्काम भावना से करते हुये ही, ''शतं समाः'' सौ वर्ष पर्यन्त (सैकड़ों वर्षों तक) ''जिजीविषेत्'' तुम जीने की इच्छा करो, अथवा तुम्हें जीने की इच्छा करनी चाहिये, ''एवम्'' इस प्रकार भगवान् की प्रसन्नता के लिये निष्काम भावना से वेदविहित कर्म करते हुये, ''नरे'' संसार में अनासक्त रहते हुये, ''त्वयि'' तुझ जीव में ''कर्म न लिप्यते'' कर्म का लेप नहीं होगा, अर्थात् कर्म का बन्धन नहीं होगा। ''इतः अन्यथा न'' तुम्हारे लिये (जीव के) निष्काम कर्म मार्ग से अतिरिक्त दूसरे प्रकार से वर्तन का कोई मार्ग नहीं है, अर्थात् जीवन प्राप्त करके तुम्हें अपने लिये वेदविहित कर्म करने ही चाहिये, और कर्मफल की इच्छा नहीं रखनी चाहिये ।। श्री ।।

भावार्थ– भगवती श्रुति आज्ञा के स्वर में कह रही है कि— हे जीव! इस संसार में आकर अपनी वर्णाश्रममर्यादा के अनुकूल अपने लिये भगवान् वेद द्वारा विहित नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्त आदि कर्मों को परमेश्वर के चरणों में कर्म फलों का समर्पण करके निष्काम भावना से करते हुये सैकड़ौं वर्षों तक तुम्हें जीने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार संसार में अनासक्त रह कर परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये निष्काम भावना से कर्म करते हुये तुझ जीव में कर्म का लेप अर्थात् बन्धन नहीं होगा। तुम्हारे लिये भगवत्प्रीतिनिमित्तक निष्कामकर्ममार्ग से अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रकार नहीं है, इसी एक ही प्रकार से तुम कर्मबन्धन से मुक्त हो सकोगे ।। श्री ।।

विशेष– भगवती श्रुति जीव की अकर्मण्यता का निषेध करती हैं, श्रुति का मन्तव्य है कि— "यदि तुम्हें प्रभु की कृपा से मानव शरीर मिला है तो इसका सदुपयोग कर लो। क्योंकि मानव शरीर ही कर्म करने में समर्थ है, और शरीर तो कर्मफलों के भोग के लिये ही होते हैं।" श्रीमानस के उत्तरकाण्ड में भगवान् श्रीराम भी प्रजा से कहते हैं—

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन गावा।
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा।।

—(मानस ७-४३, ७-८)

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताई।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाई।।

—(मानस ७-४३)

अर्थात्– बडे भाग्य से मनुष्य शरीर मिला है। सब ग्रन्थों ने यही कहा है कि यह शरीर देवताओं को भी दुर्लभ है (कठिनता से मिलता है)। यह साधन का धाम और मोक्ष का दरवाजा है। इसे पाकर भी जिसने परलोक न बना लिया वह परलोक में दुःख पाता है, सिर पीट-पीट कर पछताता है तथा (अपना दोष न समझकर) काल पर, कर्म पर और ईश्वर पर मिथ्या दोष लगाता है।। श्री ।।

"कुर्वन्" शब्द में परस्मैपद से "शतृ" प्रत्यय किया गया है। "करोति इति कुर्वन्" डुकृञ् धातु में ञ् इत् संज्ञक है, यहाँ जब कर्म का फल कर्तृगामी अर्थात् कर्ता को प्राप्त होगा, तभी आत्मनेपद के प्रत्यय होंगे। चूँकि 'कुर्वन्' यह शतृ प्रत्यय परस्मैपद का है इससे स्पष्ट है कि यहाँ कर्म का फल करने वाले को नहीं प्राप्त हो रहा है, इस प्रकार की क्रिया का प्रयोग करके श्रुति कहना चाहती है कि— तुम वेद विहित सभी कर्मो को करो परन्तु उनके फल परमेश्वर को सौंप दो, फल की इच्छा करके बन्धन में पड़ जाओगे। "एव" शब्द यहाँ क्रिया से अन्वित होकर अत्यन्तायोग का व्यवच्छेद कर रहा है, श्रुति का आशय यह है कि— मानव शरीर पाकर तुम्हें वैदिक कर्म करने पड़ेंगे ही, बिना कर्म के तुम्हें जीने का कोई अधिकार नहीं है। संस्कृत में "समा" शब्द वर्ष का वाचक है, और "शत" शब्द अनन्त का वाचक है, भाव यह है भगवत् प्रीत्यर्थ कर्म करते हुये तुम्हें अनन्त वर्ष तक जीने का अधिकार है।

समाज में उपेक्षित दीन-हीन अपंग विकलांगों की सेवा ही भगवान् की सेवा है, पर इसमें कुछ भी चाह लिया तब भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे। यहाँ तो हनुमान जी की भाँति अपने नाम की भी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ''जिजीविषेत्'' यह जीव धातु से निष्पन्न 'सन्' प्रत्ययान्त प्रयोग है, और यहाँ ''व्यत्ययो बहुलम्'' (पा०अ०- ३-१-८५) पाणिनीयसूत्र से मध्यमपुरुष एकवचन के अर्थ में प्रथमपुरुष का एकवचन हो गया है। अर्थात् ''जिजीविषे:'' के अर्थ में जिजीविषेत् का प्रयोग है। यहाँ विधि अर्थ में 'लिङ्' लकार है, और पूर्वमीमांसा के अनुसार अत्यन्त अप्रप्ति में ही श्रुतियाँ किसी कार्य का विधान करती हैं। ''विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'' जागना-सोना-भोजन-स्नान आदि शरीर सम्बन्धी कर्म तो स्वभाव से होते ही रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण भी (गीता- ३-५) में कहते हैं कि— कोई भी प्राणी शरीर सम्बन्धी कर्मों को किये विना क्षण भर भी यहाँ नहीं रह सकता, किसी के न चाहने पर भी प्रकृति के गुण उससे हठात् कर्म कराते ही रहते हैं। इसीलिये अपने आप प्राप्त शारीरिक कर्मों के लिये श्रुति विधान नहीं करती, वह तो उन्हीं वैदिक कर्मों के लिये मनुष्य को आदेश करती है जिनमें वह अपने मन से प्रवृत्त नहीं होता। क्योंकि वैदिक कर्मों को मनुष्य के न चाहने पर भी उससे प्रकृति के गुण नहीं करा पाते, ये उनके अधिकार क्षेत्र से परे हैं। इसीलिये श्रुति वैदिक कर्म के लिये ही विधिवाक्य का प्रयोग करती है। ''एवम्'' ऐसा करने से तुम कर्मबन्धन से लिप्त नहीं होगे। ''नरे'' नर शब्द यहाँ बहुत महत्त्व का है 'न रमति इति नर: तस्मिन् नरे'' श्रुति कहती है कि तुम संसार में रह कर कर्म करो परन्तु संसार में तुम्हारी आसक्ति नहीं होनी चाहिये, तुम्हारी आसक्ति तो भगवान् श्री सीताराम जी के नाम-रूप-लीला-धाम में ही रहनी चाहिये, तन काम में मन राम में,

तन से कर्म करो विधि नाना। मन राखो जहँ कृपा निधाना।।

जैसे पानी में नाव का रहना उचित है पर यदि नाव में पानी आ जायेगा तो नाव डूब जायेगी। उसी प्रकार तुम संसार में रहो पर अपने मन में संसार को नहीं रहने दो। उसमें तो राघवेन्द्र सरकार को ही पधरा लो। ''लिप्यते'' शब्द में भी वर्तमान के समीप भविष्यत्काल में वर्तमान काल का प्रयोग है, अर्थात् जब तुम्हारा मन राम में रमेगा तब कर्म का बन्धन नहीं होगा, जैसे श्रीवसुदेव ने भगवान् बालकृष्ण को गोद में लिया उसी समय

उनकी बेड़ी-हथकड़ी आदि सारे बन्धन टूट गये। श्रुति आगे जीव को सावधान करती है ''इत: अन्यथा न'' तुम जैसे मनुष्य के लिये निष्कामकर्म ही श्रेष्ठ मार्ग है, भगवान् के लिये कर्म करते-करते मन के मल समाप्त होंगे इसके अनन्तर उपासना अर्थात् भगवान् के निकट बैठने का अवसर मिलेगा, और सभी विक्षेप दूर हो जायेंगे, फिर भगवत्तत्व ज्ञान से तुम्हारे सारे आवरण समाप्त हो जायेंगे, और फिर तुम निरावरण श्रीसीतारामचरणकमलों के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त कर लोगे। इससे अतिरिक्त तुम्हारे लिये कोई मार्ग नहीं है। तन से करो काम मन में रटो राम ॥ श्री ॥

संगति– द्वितीय मन्त्र में श्री श्रुति ने वेदविहित कर्म करने वालों को ही सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीने का अधिकार दिया, अब तृतीय मन्त्र में विकर्म करने वाले अथवा अकर्मण्य लोगों के लिये नरक का विधान भी कर रही है ॥ श्री ॥

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ''अन्धेन'' अत्यन्त प्रगाढ़, ''तमसा'' अन्धकार से, ''आवृता:'' ढके हुये, ''ते'' वे श्रुति, पुराण एवं इतिहासों में प्रसिद्ध ''असुर्या: लोका:'' असुरों के आत्मीय लोक हैं। ''ये के च'' ज़ो कुछ लोग ''आत्महन:'' विकर्म द्वारा अथवा अकर्मण्य रह कर या भगवान् से विमुख होकर अपनी आत्मा की हत्या करते हैं, वे ''प्रेत्य'' कर्म प्रारब्ध का क्षय होने पर शरीर को छोड़कर ''तान्'' उन्हीं लोकों को ''अभिगच्छन्ति'' यमदूतों द्वारा पीटे जाते हुये प्राप्त होते हैं ॥ श्री ॥

भावार्थ– हृदय प्रकाश को नष्ट करने वाले, ऐसे घोर अन्धकार से ढके हुये, वेदों स्मृतियों तथा पुराणेतिहासों में प्रसिद्ध ''असुर्य'' अर्थात् असुरों के प्रिय रौरव आदि भयानक लोक प्रसिद्ध हैं। जो लोग वेदविरुद्ध कर्म करते हैं अथवा अकर्मण्य रहकर पृथिवी के भार बने रहते हैं, तथा भगवान् के नाम-रूप-लीला-धाम आदि का चिन्तन नहीं करते वे अपनी आत्मा की हत्या करते हैं। ऐसे ही लोग शरीर को छोड़कर यमदूतों द्वारा अनेक दण्ड प्राप्त करके उन्हीं असुरों के आत्मीय रौरव-कुम्भीपाक-असिपत्रवन-महारौरव आदि नरक लोकों को प्राप्त होते हैं ॥ श्री ॥

विशेष– श्रुति के अनुसार स्वर्गलोक के समान नरकलोक की भी

सत्ता है, मन्त्र के पूवार्ध में उन्हीं के स्वरूप का वर्णन है। नरक लोक स्वर्ग की भाँति प्रकाश युक्त नहीं है, वे तम से ढके रहते हैं, वह भी सामान्य अन्धकार से नहीं। ''अन्धेन'' अन्ध शब्द यहाँ यौगिक है ''अन्धयति इति अन्धम् तेन'' ऐसे तम से जो सामान्य लोगों की आँख अन्धी कर देता है, वह एक ऐसा अज्ञानात्मक अन्धकार होता है जहाँ व्यक्ति अपने एवं परमात्मा के स्वरूप को भूल जाता है, तथा नरक के कष्ट भोगने को बाध्य हो जाता है। वे नरक लोक जैसे-तैसे छिपे हुये लोक नहीं हैं, श्रुति कहती है ''ते'' अर्थात् वे तो वेदों-पुराणों और इतिहासों में प्रसिद्ध हैं, इनकी संख्या अनन्त है। यद्यपि वे देवताओं को प्रिय नहीं हैं, पर असुरों के वे सर्वस्व ही हैं। ''असु'' अर्थात् प्राणों में रमन करने वालों को असुर कहते हैं, अथवा सुरों के विरोधियों को असुर कहा जाता है। व्याकरण में नञ् का विरोध अर्थ भी प्रसिद्ध है। उन असुरों को ये लोक स्व अर्थात् आत्मा के समान प्रिय हैं। ''असुराणां स्वे इति असुर्या'' ये लोक असुरों के आत्मीय भी हैं, अथवा ''असुराणां स्वाः'' ये नरक लोक असुरों की जाति के हैं, और ये असुरों के धन भी हैं, यहाँ असुर शब्द से ''असुरस्य स्वम्'' (पा०अ० ४-४-१३२) सूत्र से 'यत्' प्रत्यय भसंज्ञा अकारका लोप करके असुर्य शब्द की निष्पत्ति की गयी है। ''नाम'' शब्द वाक्यालंकार और प्रसिद्धि अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् ये प्रसिद्ध हैं। स्वयं भागवतकार ने अठाईस नरकों की चर्चा की है, और गरुडपुराण में तो वेदव्यास ने सोलह अध्यायों में नरक यातना का वर्णन किया है। ''आत्महनः'' श्रीमद्भागवत में दो बार आत्महत्या की चर्चा की गयी है, प्रथम १०-१-४ में और द्वितीय ११-२०-९६ में महाराज परीक्षित कहते हैं कि— सांसारिक तृष्णा से रहित महानुभावों द्वारा भगवान् के समीप रह कर गाये जाते हुये, संसाररोग की औषधिरूप श्रवण और मन को आनन्द देनेवाले, भगवान् उत्तमश्लोक के गुणानुवाद से वही विरत अर्थात् दूर होगा जो आत्महत्यारा है। इसी प्रकार ग्यारहवें स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण उद्धव जी से कहते हैं कि— यह देवदुर्लभ मानवशरीर साधक के लिये श्रेष्ठ नाव के समान सुलभ है, स्वयं सद्गुरुदेव ही जिसके खेवैया हैं, एवं मेरी कृपा ही अनुकूल वायु, इतनी सुविधा पाकर भी यदि कोई पुरुष संसार सागर को नहीं पार करता तो वह आत्महत्यारा है। यहाँ पाठकों के आनन्द के लिये भागवत के ये दोनों श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्
भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्
पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।।
—(भा० १०-१-४)

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।
—(भा० ११-२०-१६)

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इन दोनों प्रसंगों का बड़ा मधुर चित्रण किया है—

(१) ते जड़ जीव निजातम घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती ।।
—(मानस ७-५३-६)

(२) नर तनु भववारिधि कह बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।
जे न तरहिं भव सागर, नर समाज अस पाय।
ते कृतनिन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाय ।।
—(मानस ४-४४-७-८)

अर्थात्– यह मनुष्य का शरीर भवसागर (से तारने) के लिये बेड़ा (जहाज) है। मेरी कृपा ही अनुकूल वायु है। सद्गुरु इस मजबूत जहाज के कर्णधार (खेनेवाले) हैं। इस प्रकार दुर्लभ (कठिनता से मिलने वाले) साधन सुलभ होकर (भगवत् कृपा से सहज ही उसे प्राप्त हो गये हैं) जो मनुष्य ऐसे साधन पाकर भी भवसागर से न तरे वह कृतघ्न और मन्दबुद्धि है और आत्महत्या करनेवाले की गति को प्राप्त होता है ।। श्री ।।

ऐसे भयंकर नरकलोकों को वे मर कर प्राप्त करते हैं। इसीलिये कभी विकर्म नहीं करना चाहिये और अकर्मण्य नहीं बनना चाहिये ।। श्री ।।

संगति– वह तत्व कौन है जिसके चरणारविन्द से विमुख होकर जीव आत्महत्यारे की गति प्राप्त करता है, और जिसका भजन न करके

उसे नाना नरक यातनायें सहनी पड़ती हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुये भगवती श्रुति चतुर्थमन्त्र में तुरीयतत्व परब्रह्म परमात्मा के अनेक विरुद्ध धर्मों से युक्त स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं —

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्शत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ।।४।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ''एकं'' वह ब्रह्म उपमा रहित है, ''अनेजत्'' वह कम्पित नहीं होता, ''मनसः जवीयः'' वह मन से भी अधिक वेगशाली है, ''पूर्वम् अर्षत्'' वह पहले से ही माया गुणों से पार हो चुका है, ''एनत् देवाः न आप्नुवन्'' इस ब्रह्म को देवता भी नहीं प्राप्त कर पाये, ''तिष्ठत् धावतः अन्यान् अत्येति'' वह स्थिर होता हुआ भी दौड़ने वाले अन्य लोगों को पीछे छोड़ देता है, तथा आगे बढ़ जाता है। ''तस्मिन्'' साक्षी रूप में उस ब्रह्म के विराजमान रहते हुये ही, ''मातरिश्वा'' वायु देवता, ''अपः दधाति'' जल अर्थात् जीवों की जीवनी शक्ति का पोषण करते हैं।। श्री ।।

भावार्थ– जिसके चरणारविन्द से विमुख जीव नरक यातनायें भोगता है तथा जिसके भजन के विना जीव को अनिवार्य रूप से असुर्य लोक मिलते हैं, वह वेदवेद्य परब्रह्म एक अर्थात् समस्त उपमाओं से रहित हैं। वह सुख दुःखादि द्वन्द्व धर्मों से विचलित नहीं होता, और अवतार काल में श्रीरामकृष्ण रूप में प्रस्तुत हुआ वह परमात्मा रावण-कंस आदि के घोर संग्राम में भी स्थिर रहता है। वह परमात्मा मन से भी अधिक वेगशाली हैं, वह पहले ही माया गुणों को पार कर चुका है, उसे देवता भी नहीं प्राप्त कर सके, वह अपने स्वरूप में स्थिर रहता हुआ भी महत्वाकांक्षा के लिये दौड़ने वाले अन्य सभी को पीछे छोड़ देता है और उसी परमात्मा के साक्षीरूप में विराजमान रहते हुये ही वायुदेवता जीव की जीवन सामग्रियों का पोषण करते हैं।। श्री ।।

विशेष– ''एकं'' यहाँ एक शब्द अद्वितीय वाचक होकर भी एक और अर्थ की ओर संकेत करता है, संस्कृत में भगवान् वासुदेव को अकार कहते हैं, और 'क' सुख का नाम है, ए अर्थात् भगवान् वासुदेव को भी जिससे सुख प्राप्त होता है, वे भगवान् महाविष्णु श्रीराम ही एक हैं 'ए वासुदेवे कं सुखं यस्मात् तत् एकम्'' भगवान् राम विष्णु को भी सुख देते हैं, इसीलिये श्रीमिथिला में श्रीराम को दूल्हे के वेष में घोड़े पर चढ़े हुये देखकर लक्ष्मी सहित मोहित हो जाते हैं—

हरि हित सहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे ।।

—(मानस १-३१६-३)

''अनेजत्'' यह शब्द कम्पनार्थक ''एजृ'' धातु से शतृ प्रत्यय करके ''नञ्'' समास द्वारा सिद्ध किया गया है। अर्थात् यह कभी सुख-दुःखादि से विचलित नहीं होता, और अवतार काल में रावणादि के भय से भी युद्ध में भयभीत नहीं होता। उसका वेग मन से भी अधिक है, मन संकल्प करके सीमित समय में लक्ष तक पहुँचता है, पर भगवान् तो अपने भक्त के लिये मन से भी अधिक शीघ्रगामी हो जाते हैं। गजेन्द्रमोक्षप्रकरण में भगवान् के उतावलेपन पर हार मान कर गरुड ने कह दिया कि—

बलकर दून पवन कर चौगुन मनकर चलौं सवाई।
इतनी चाल मेरे यदुनन्दन और चाल कँह पाई।।

तब भगवान् ने गरुड को छोड़ दिया, और अपने मन के अनुकूल इच्छामय गरुड का निर्माण कर लिया। श्रीमद्भागवत में स्वयं भगवान् शुक्राचार्य कहते हैं—

तं तद्वदार्त्तमुपलभ्य जगन्निवासः स्तोत्रं निशम्य दिविजैः सह संस्तुवद्भिः।
छन्दोमयेन गरुडेन समुह्यमानश्चक्रायुधोऽभ्यगमदाशु यतो गजेन्द्रः ।।

—(भागवत ८-३-३१)

अर्थात् विश्व के एकमात्र आधार भगवान् ने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित हो रहा है। अतः उसकी स्तुति सुन कर इच्छामय गरुड पर सवार हो चक्रधारी भगवान् बड़ी शीघ्रता से वहाँ के लिये चल पड़े जहाँ गजेन्द्र अत्यन्त सङ्कट में पड़ा हुआ था, उनके साथ स्तुति करते हुये देवता भी आये।। श्री ।।

''पूर्वम् अर्षत्'' गत्यर्थक रिष् धातु से लङ्लकार के एकवचन में अर्षत् शब्द बनता है, छान्दस् होने से अजादि होनेपर भी अट् का आगम हुआ। अथवा आट् का आगम होने पर भी बाहुलकात् अकार के अभाव में भी पूर्वरूप हो गया। यहाँ इस वाक्यखण्ड के तीन अर्थ किये जा सकते हैं। (१) ''पूर्वम् अर्षत्'' जो पूर्व ही मायागुणों को पार करके संसारसागर से पार हो चुका है, भगवान् माया गुणों से बंधते नहीं। इसीलिये उन्हें ''माया गुन गोपार'' कहा गया है। (२) ''पूर्वम् अर्षत्'' यहाँ वर्तमानकाल के अर्थ में भूतकाल का प्रयोग है, भगवान् अपने भक्त की प्रार्थना की समाप्ति के पूर्व ही उसके पास चले जाते हैं। जैसे महाभारत में द्रौपदी की टेरसमाप्ति के

पहले ही भगवान् उनके पास आ गये, सन्तों का तो यहाँ तक मानना है कि द्रौपदी ने भगवान् को गोविन्द कह कर बुलाया। पर गो कहते-कहते भगवान् चल पड़े, और विन्द शब्द समाप्त भी न हुआ था कि उसके बीच ही भगवान् आ गये। (महाभारत- २-६-४४ में) स्वयं भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि— याज्ञसेनी द्रौपदी का क्रन्दन सुन कर भगवान् श्रीकृष्ण करुणा से गह्वरित हो गये, और रुक्मिणी के पलंग को छोड़ कर परम कृपालु भगवान् पैदल चल कर द्रौपदी के पास दौड़े आये, ''पद्भ्यामभ्यगात्'' वस्त्रावतार लेकर द्रौपदी की साड़ी बढ़ाई। एक कवि महानुभाव ने क्या ही मधुर कहा है—

सुन्दर सफेद सब्ज बैजनी हरीरी पीरी
ढेरी बहुतेरी नहीं गिनने में आयो हैं।
लाली औ गुलाली गुलनारी पट फालसाही
कायी औ वदामी बहुतेरी दर्शायो हैं।
खाकी धानी प्याजी जाफरानी आसमानी बहु
अम्बर अपार आसमान लगि छायो हैं।
द्रौपदी के काज व्रजराज हैं बजाज मानो
लाद के जहाज पट द्वारका ते धायो हैं।।

वे भगवान् इतने दुराराध्य हैं कि इन्द्रादि देवता भी उन्हें न पा सके, वे स्थिर रहते हैं, परन्तु अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के लिये दौड़ते हुये और लोगों को पीछे छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि– और देवता नाना प्रकार के प्रयास करके भी जिस गरिमा को नहीं प्राप्त कर पाते भगवान् को वह विना प्रयास के ही मिल जाती हैं। जैसे इन्द्र ने अत्यन्त प्रयास करके सौ अश्वमेध यज्ञ करने के पश्चात् 'शतक्रतु' या शक्र की पदवी पायी, इस विरुदावली को बनाये रखने के लिये वह सतत इतना जागरूक रहता है कि आज तक उसने किसी के सौ अश्वमेध यज्ञ नहीं पूरे होने दिये।। श्री।।

रघुवंश महाकाव्य में रघु से इन्द्र ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा कि— हे कुमार! जैसे भगवान् नारायण एक मात्र पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। जैसे भगवान् शंकर के अतिरिक्त और कोई महेश्वर नहीं बन सका, उसी प्रकार मुनिगण मुझ को ही शतक्रतु कहते हैं। हमारा यह शब्द किसी दूसरे में जा ही नहीं सकता। यहाँ इन्द्र अपनी विरुदावली को बचाने के लिये कितना यत्नशील हैं पर भगवान् राम बिना प्रयास ही करोड़ों अश्वमेध यज्ञ करते हैं, और इन्द्र उन्हें नहीं रोक पाता ''अश्वमेधशतैरिष्ट्वा'' (वा०रा० १-१-९४)।। श्री।।

गोस्वामी जी कहते हैं कि भगवान् राम ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये—

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हें।।

—*(मानस ७-२४-१)*

अर्थात्– प्रभु श्रीराम जी ने करोड़ों अश्वमेध यज्ञ किये और ब्रह्मणों को अनेक दान दिये। ऐसे परमात्मा की उपस्थिति में ही उन्हीं से चेतना प्राप्त करके वायु देवता "अप:" अर्थात् जल से लेकर अमृत पर्यन्त जीव की सभी जीवन सामग्रियों का निर्माण करते हैं। यहाँ "अप:" शब्द सभी जीवन सामग्रियों का बोधक हैं।। श्री।।

संगति– चतुर्थ मन्त्र में भगवान् की जिस विरुद्धधर्माश्रयता का वर्णन किया गया, पञ्चम मन्त्र में उसी को श्रुति अभ्यास मुद्रा में कह रही है। क्योंकि भगवान् के गुणगण कहने में मंत्रों को कभी आलस्य नहीं आता।। श्री।।

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्थ सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– "तत्" वह परमात्मा "एजति" चलते हैं "तत्" वह परमात्मा, "न एजति" नहीं चलते, "तत्" वही "दूरे" अपने विमुखों से बहुत दूर रहते हैं। "तत् उ अन्तिके" वे भगवान् निश्चय ही अपने प्रेमी भक्तों के निकट रहते हैं। "तत्" वे ही भगवान् "अस्य सर्वस्य" इस सम्पूर्ण जीव के "अन्त:" अन्तर में विराजते हैं। "तत्" वे ही भगवान "उ" निश्चित रूप से, "अस्य सर्वस्य" इस संपूर्ण जीव के "बाह्यत:" बाहर भी रहते हैं।। श्री।।

भावार्थ– परब्रह्म परमात्मा चलते भी हैं नहीं भी चलते। परमेश्वर सबसे दूर भी हैं और निकट भी, और वही सर्वसर्वेश्वर अन्तर्यामी रूप से संपूर्ण जीवों के अन्तर में, तथा कालरूप में सभी जीवों के बाहर भी विराजते हैं।। श्री।।

विशेष– इस मंत्र में भगवान् के एजन्-अनेजन्, दूरस्थिति-निकटस्थिति, अन्त:स्थिति और बाह्यस्थिति इन छ: परस्पर विरुद्ध धर्मो का वर्णन किया गया, जो केवल परमात्मा में ही संगत हो सकते हैं। सामान्य जीवात्मा में नहीं। विष्णुपुराण में भगवान् के छ: ऐश्वर्य कहे गये हैं, ऐश्वर्य-धर्म-यश-श्री-ज्ञान-तथा वैराग्य—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

इन्हीं छहों ऐश्वर्य के बल पर श्रुति में कहे हुये छहों विरुद्धधर्म भगवान् में एक साथ रहते हैं। ''एजति'' भगवान् भक्त का दुःख सुन कर काँप जाते हैं, और उसका समाधान करने के लिये अपने ऐश्वर्य से क्षण भर में भक्त के पास चले जाते हैं। गजेन्द्र-मोक्ष, द्रौपदी चीर-हरण आदि इसके उदाहरण हैं। ''न एजति'' भगवन् अपने धर्म के ही बल पर किसी भी परिस्थिति में चलायमान नहीं होते, क्योंकि अच्युतत्व ही उनका धर्म है। अतः अपने विमुखों के दुःखों से उनको क्या लेना। अपने यश से ही भगवान् सुदूर सभी भुवनों में व्यापक हैं। और श्री के कारण ही भक्त की शरणागति के लक्ष्य बनकर भगवान् भक्त के निकट विराजते हैं। ज्ञानबल से अज्ञान का निरसन करके भगवान् सबके हृदय में विराजते हैं, जैसा कि गीताजी में श्रीमुख का वचन भी है—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

—(गीता- १०-११)

हे अर्जुन! उन भक्तों पर कृपा करने के लिये ही मैं उनके अन्तःकरण में स्थिर होकर अपने प्रकाशमान ज्ञानदीपक द्वारा सेवकों के अज्ञानजनित अन्धकार को नष्ट कर देता हूँ॥ श्री॥

भगवान् वैराग्य से ही सबके बाहर रहते हुये भी संसार के दुःख-सुख से लिप्त नहीं होते। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि अन्तर्यामी रूप से सबके अन्तःकरण में निवास करके भगवान् अमृत प्रदान करते हैं और बाहर रह कर अपने भजन से बहिर्मुखों को काल बन कर मृत्यु देते हैं। जैसा कि भागवत में महाराज परीक्षित कह रहे हैं—

वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।
प्रयच्छतो मृत्युभृतामृतं च माया मनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥

—(भागवत १०-१-७)

अर्थात्– वे समस्त शरीरधारियों के भीतर आत्मारूप से रह कर अमृतत्व का दान कर रहे हैं और बाहर कालरूप से रह कर मृत्यु का। मनुष्य के रूप में प्रतीत होना,यह तो उनकी एक लीला है। आप उन्हीं की ऐश्वर्य और माधुर्य से परिपूर्ण लीलाओं का वर्णन कीजिये। ऐसे समस्तविरुद्धधर्माश्रय परमेश्वर के भजन से ही जीव का कल्याण है, यही श्रुति का तात्पर्य है॥ श्री॥

संगति– पूर्व के दो मन्त्रों में श्रुति ने भगवान् की सकलविरुद्ध-धर्माश्रयता और षडैश्वर्यसम्पन्नता का वर्णन किया। और अब श्रुति दो मन्त्रों में परमात्मा दर्शन की महिमा का वर्णन कर रही है॥ श्री॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥६॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा जगत् के कण-कण में वर्तमान हैं। ''तु'' निश्चयपूर्वक यह जो साधक, ''सर्वाणि भूतानि'' सभी प्राणियों को, ''आत्मनि एव'' परमात्मा में ही अथवा परमात्मा के समीप, ''अनुपश्यति'' सदैव देखता या चिन्तन करता है, ''च'' और, ''सर्वभूतेषु'' सभी प्राणियों में, ''आत्मानम्'' अन्तर्यामी रूप से विराजमान परमात्मा को ही, ''अनुपश्यति'' अनुक्षण चिन्तन करता है, ''ततः'' इस प्रकार ब्रह्मविज्ञानसंपन्न जीव, ''न विजुगुप्सते'' कोई भी घृणित कार्य नहीं करता॥ श्री॥

भावार्थ– जो साधक परमात्मा में ही समस्त भूतप्राणियों को देखता है, और सभी प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से विराजमान परमेश्वर के दर्शन करता है। वह कभी-भी लोकशास्त्र से विरुद्ध कार्य नहीं करता, क्योंकि परमात्मा के दर्शन से उस साधक का मन इतना निर्मल हो जाता है कि उसे घृणित कार्य करने का अवकाश ही नहीं मिलता। जैसे रावण के द्वारा भेजे हुये शुकसारण कपटवानर का वेश धारण करके रामदल में आये, परन्तु जब उन्हें परमात्मा श्रीराम के दर्शन हुये तब उनका मन इतना निर्मल हो गया, कि वे कोई भी गलत कार्य नहीं कर सके। जैसा कि श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी जी महाराज कहते हैं—

प्रगट बखानहिं राम सुभाउ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराउ॥

—*(मानस ५-५२-१)*

विशेष– यहाँ आत्मशब्द परमात्मा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कोष के अनुसार आत्मा शब्द जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वाचक हैं—

''आत्मा शरीरे जीवे च जीविते परमात्मनि''

जो जन्म लेते हैं और ईश्वर की सत्ता से अस्तित्ववान् रहते हैं, उन्हें ही यहाँ भूत कहा गया है। ''भवन्ति इति भूतानि'' ''भान्ति इति भूतानि'' यहाँ भू धातु से कर्ता में ''क्त'' प्रत्यय है और भा धातु से भी, परन्तु ''पृषोदरादित्वात्'' भा धातु के आकार को उकार हो गया है। ''अनुपश्यति'' का अर्थ है अनुक्षण

चिन्तन करना। इस प्रकार "भूतानि" में प्रथमा, तथा "आत्मनि" में सप्तमी, पुनः "भूतेषु" में सप्तमी, और "आत्मानं" में द्वितीया कह कर श्रुति ने स्पष्ट रूप से जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः भेद सिद्ध कर दिया। अर्थात् श्रुति की मान्यता में जीवात्मा की परमात्मा से नित्य पृथक् सत्ता है। वह सामीप्यसम्बन्ध से परमात्मा से जुड़ा हुआ है, और परमात्मा संयोगसम्बन्ध से जीवात्मा से उपश्लिष्ट हैं। यही बात भागवतजी के ग्यारहवें स्कन्ध में महाराज निमि से नवयोगेश्वरों में द्वितीय श्रीहरि कहते हैं कि— हे महाराज निमि जो सम्पूर्णभूतों में भगवान् को तथा भगवान् में सम्पूर्णभूतों को देखता है वह उत्तम भागवत हैं। यही बात मानस में गोस्वामी जी भी कह रहे हैं—

सीय राम मय सब जग जानी । करउँ प्रणाम जोरि जुग पानी ।।

—*(मानस १-८-२)*

संगति– अब श्रुति परमात्मा दर्शन का साक्षात् फल कह रही है—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ।।७।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– "यस्मिन्" परमात्मा के दर्शन की जिस अवस्था विशेष में, "सर्वाणि भूतानि" सभी प्राणियों को, "विजानतः" विशेषरूप से देखते हुये साधक के समक्ष, "आत्मा एव अभूत्" जीवात्मा के नित्य सखा परमात्मा ही प्रकट हो जाते हैं, "तत्र" उस अवस्था विशेष में, "एकत्वम् अनुपश्यतः" जीवात्मा और परमात्मा के सेवकसेव्यभावसम्बन्ध का चिन्तन करते हुये साधक के समक्ष, "कः मोहः कः शोकः" कौन-सा मोह कौन-सा शोक ? ।। श्री ।।

भावार्थ– साधक जिस विशेष अवस्था में सम्पूर्ण प्राणियों का दर्शन करता हुआ विचारशील बन जाता है, और उसकी दृष्टि में केवल परमात्मा ही प्रकट हो जाते हैं तथा वह जीवात्मा के साथ परमात्मा का सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध दृढ़ कर लेता है, उस समय कौन-सा मोह कौन-सा शोक ? अर्थात् वह शोक के कारण भूत मोह, तथा मोह के कार्य भूत शोक से मुक्त हो जाता है ।। श्री ।।

व्याख्या– साधक के जीवन में एक ऐसी अवस्था आती है, जिसमें वह सभी प्राणियों को इस विचार से देखता है कि ये परमात्मा के निवास स्थान हैं। अर्थात् इनके हृदय में भगवान् अन्तर्यामी रूप से निवास करते हैं।

ये सभी प्राणी शरीर हैं, और भगवान् शरीरी। यह दर्शन विशिष्टाद्वैत के विना संभव नहीं है क्योंकि विशिष्टाद्वैतवाद में ही भगवान् श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य जी ने परमात्मा को विशेष्य तथा जीव और प्रकृति को परमात्मा के विशेषण माने हैं और उनका परमात्मा के साथ शरीरशरीरिभावसंबन्ध भी निश्चित किया है। इस प्रकार जब सभी प्राणियों के दर्शन से साधक के सामने परमात्मा प्रकट हो जाते हैं, और अनात्मतत्व बाधित हो जाते हैं, तभी मोहादि विकारों का नाश होता है। जैसे सूर्योदय के समय तारे रहते हुये भी नहीं दिखते, क्योंकि वे सूर्य के प्रकाश में छिप जाते हैं, उसी प्रकार भगवान् के साक्षात्कार के समय उनके विशेषण चित् अचित् (जीव और प्रकृति) तथा उनके सभी व्यवहार छिप जाते हैं। ''अभूत्'' शब्द बाहुलकात् लट् के अर्थ में है। अथवा जब साधक को परमात्मा का साक्षात्कार हो गया तब मोह और शोक रहेंगे ही कहाँ, जैसे श्रीनामदेव जी ने कुत्ते में ही विट्ठलनाथ जी के दर्शन किये। भगवती श्रुति ने ''विजानत:'' शब्द का प्रयोग करके 'वि' उपसर्ग से स्पष्ट संकेत किया है कि— जब साधक विशिष्टाद्वैतवाद की पद्धति से प्राणियों को देखता है, तभी उसके सामने जीवात्मा के नित्यसखा परमात्मा, जीवात्मा के शरीर से ही प्रकट हो जाते हैं। नहीं तो नामदेव जी को कुत्ते के शरीर में विट्ठलनाथ जी के दर्शन कैसे होते ? तथा प्रह्लाद जी को खम्भे में नृसिंह भगवान् का साक्षात्कार कैसे होता ? जो वस्तु रहती है वही प्रकट होती है। जैसे तिल में तेल है अत एव यन्त्र से वह निकाला जाता है, दूध में घी है इसी से वह मथने पर निकल आता है। उसी प्रकार जीवात्मा के हृदय में परमात्मा हैं जो भक्तों के समक्ष प्रकट होते हैं। यहाँ यह ध्यान रहे कि जीवात्मा और परमात्मा में स्वरूप से अभेद कभी-भी श्रुतिसम्मत नहीं है। नहीं तो ''विजानत:'' इस षष्ठ्यन्त के साथ आत्मा इस प्रथमान्त का व्यवहार संगत ही नहीं होगा। यहाँ ''सर्वाणि भूतानि'' यह द्वितीयान्त पद है, और ''विजानत:'' शब्द के साथ अग्रे का अध्याहार कर लेना चाहिये, अर्थात् जब साधक सम्पूर्ण भूत प्राणियों को ''विजानत:'' याने विशिष्टाद्वैत के पद्धति से देखने लगता है, तब उसके सामने परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। यहाँ ''एव'' का अर्थ है कि परमात्मा से अन्य चित् और अचित् पदार्थ छिप जाते हैं। यदि जीवात्मा और परमात्मा में भेद न होता तो विट्ठलनाथ जी के दर्शन के समय कुत्ते को मर जाना चाहिये था, क्योंकि अद्वैतवाद के मत में जीवात्मा ही परमात्मा है। इसी प्रकार नृसिंह भगवान् के प्रकट होते ही खम्भे को समाप्त हो जाना

चाहिये था। बहुत क्या कहूँ ? जीवात्मा और परमात्मा की एकता मान लेने पर हजारों श्रुतियों में असंगति आ जायेगी। यहाँ दो-एक उदाहण दिये जा रहे हैं। कठोपनिषद् में श्रुति बहुत स्पष्ट कह रही है—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं ये च पश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

—(क०उ०- २-२-१३)

यमराज नचिकेता से कहते हैं कि— परमात्मा नित्य जीवों के नित्य संबन्धी हैं, परमेश्वर चेतन जीवों के चेतन नियन्ता हैं, परमात्मा बहुत से जीवों के एकमात्र स्वामी बनकर उनकी सभी कामनायें पूर्ण करते हैं। ऐसे अपने नित्य सम्बन्धी, नित्य सखा, तथा नित्य स्वामी उन परमात्मा को जो धीर पुरुष अपने ही मनमन्दिर में विराजमान निहारते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है ''इतरेषां न'' अन्यों को नहीं। अर्थात् जो जीवात्मा को ही परमात्मा मान बैठे हैं उन्हें शाश्वत सुख नहीं मिलता। इस श्रुति में स्पष्ट रूप से जीवात्मा के लिये षष्ठ्यन्त बहुवचन और परमात्मा के लिये प्रथमा एकवचन का प्रयोग हुआ है। यहाँ तीन बार षष्ठ्यन्त प्रयोग का स्पष्ट तात्पर्य यही है कि परमात्मा तीनों काल में जीव के नित्य सम्बन्धी हैं। अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में जीव के एकमात्र नित्यचेतन स्वामी हैं। यदि जीवात्मा और परमात्मा में अभेद होता ही तो मुण्डकोपनिषद् में श्रुति ''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'' कह कर बहुत ही स्पष्ट शब्दों में छह बार द्विवचन का प्रयोग करके पुनः दो बार 'अन्य' शब्द का प्रयोग करके एक ही मन्त्र में जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर भेद का आठ निर्देशों से संकेत क्यों करती ? यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

—(मु० ३-१-१)

अर्थात्– अनादि काल से समान रूप से एक पीपल के वृक्ष को सुन्दर, साथ रहने वाले, एक दूसरे के परम मित्र, दो पक्षी चिपककर बैठे हैं, उनमें से एक पक्षी (जीवात्मा) पीपल के फल का स्वाद लेता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) कुछ भी न खाता हुआ सदैव प्रसन्न रहता है। यहाँ छह बार द्विवचन और दो बार अन्य शब्द का प्रयोग करके श्रुति भगवती

बहुत स्पष्ट कह रही है कि छह विकारों से भरा हुआ जीव षडैश्वर्य सम्पन्न परमात्मा से सर्वथा अलग है। इतना श्रुति के द्वारा स्पष्टीकरण किये जाने पर भी जो लोग दुराग्रहवशात् जीवात्मा और परमात्मा का अभेद सिद्ध करने की असफल चेष्टा करते हैं, ऐसे पण्डितमानियों से वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये। ''एकत्वं'' यहाँ एकत्व का सम्बन्ध अर्थ है अद्वैत नहीं, क्योंकि अद्वैत मान लेने पर जीव भगवान् की भक्ति से दूर हो जायेगा। अद्वैतवादी भी भगवान् की भक्ति के लिये द्वैत की कल्पना करते हैं। पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्यस्वामी बहुत स्पष्ट कह रहे हैं कि— ब्रह्म ज्ञान के पहले द्वैतकल्पना मोह को उत्पन्न करती है, परन्तु ब्रह्मबोध हो जाने के पश्चात् यदि भगवान् के भजन के लिये द्वैत की भावना की जाय तो वह अद्वैत से भी सुन्दर है। यथा—

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् बोधे जाते मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

पर पञ्चदशीकार यह नहीं बताते कि द्वैत का बाध हो जाने पर फिर वह कैसे लाया जा सकता है। इस शंका के समाधान के लिये 'अद्वैत सिद्धि' के रचयिता श्री मधुसूदन सरस्वती पाद ने कुछ अश्रुप्रमार्जन किया है। वे 'भक्तिरसायनम्' में कहते हैं कि— भक्ति के लिये बाधितद्वैत को भी 'आहार्य' ज्ञान के आधार पर लाना अनिवार्य होगा। इस प्रकार आरोप की असत्यता का समाधान करते हुये श्रद्धेय करपात्र स्वामी जी का पक्ष है कि— भगवान् की सत्यता की महिमा से द्वैत का आरोप असत्य होता हुआ भी सत्य हो जायेगा। इस पर यह कहा जा सकता है कि— यदि भगवान् की सत्यता के बल से असत्य द्वैत भी सत्य हो गया और यह पक्ष स्वामी जी को भी अभीष्ट हैं, तब तो हमारा ही पक्ष आयेगा और यह निश्चित हो गया कि भगवान् की भक्ति के लिये द्वैत अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का भेद चाहिये ही चाहिये। वो भी सत्यरूप में चाहिये न कि असत्य रूप में। यहाँ दूसरी आपत्ति यह है कि— द्वैत की बाह्यदशा में आहार्य ज्ञान होगा ही कैसे? क्या मरे हुये देवदत्त को फिर जिलाया जा सकता है? जैसे सूर्योदय में नष्ट हुये अन्धकार को फिर नहीं लाया जा सकता, उसी प्रकार बाधित द्वैत को आरोपित नहीं किया जा सकता। क्या ज्येठ-अषाढ़ के मध्याह्न में तपती भगवान् सूर्य की किरणों में कोई भादौ की अंधेरी रात का आरोप कर सकता है? यदि करे भी तो उसे मनुष्य नहीं उल्लू माना जायेगा, अस्तु॥ श्री॥

यदि कहें कि 'एकत्व' सम्बन्ध का पर्याय है, इस तथ्य में क्या प्रमाण होगा ? इस पर हमारा यही निवेदन है कि— 'एकत्व' और सम्बन्ध की समानार्थकता में श्रीमद्भागवतकार भगवान् वेदव्यास तथा भागवत की सर्वप्रसिद्ध टीका ''भावार्थदीपिका'' के रचयिता श्रीधरस्वामी के वचन ही परमप्रमाण हैं। पहले देखिये वेदव्यास के वचन, भागवत जी के सप्तम स्कन्ध के प्रथम अध्याय में भगवान् वेदव्यास ने यह व्यवस्था दी है कि— काम-क्रोध-भय-स्नेह-मित्रता और सम्बन्ध इनमें से कोई एक भी यदि परमात्मा के प्रति किया जाय तो वह निश्चय ही जीव को परमात्मा के चरणों में तन्मय बना देता है। उन्होंने उदाहरण भी प्रस्तुत किये— गोपियों ने काम से, कंस ने भय से, शिशुपाल ने द्वेष अथवा क्रोध से, वृष्णिवंशियों ने सम्बन्ध से, तुम लोगों ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से भगवान् की तन्मयता प्राप्त की—

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः ।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो ।।

—(भागवत् ६-१-३०)

इसी प्रकार के प्रश्न का उत्तर देते हुये महाराज परीक्षित से शुक्राचार्य जी अभ्यासकी मुद्रा में कहते हैं—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ।।

—(भागवत् १०-२९-१५)

अर्थात् जो लोग काम-क्रोध-भय-स्नेह-ऐक्य और मित्रता इनमें से किसी एक को भगवान् में निरन्तर धारण करते हैं, वे भगवान् में तन्मय बन जाते हैं। वेदव्यास जी ने ७-१-३० में कहे हुये सिद्धान्त को ही परीक्षित जी के प्रश्न का उत्तर देते हुये १०-२९-१५ में अभ्यास करते हुये दुहराया। इसके पहले ''उक्तं पुरस्तात्'' कहकर दोनों प्रसङ्गों की एकरूपता भी सिद्ध की। दोनों श्लोकों के शब्दों को मिलाइये ७-१-३० ''गोप्यः कामाद्'' १०-२९-१५ ''कामं'', ७-१-३०''भयात् कंसः'', १०-२९-१५ ''भयं'' ७-१-३०''द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः'', १०-२९-१५ ''क्रोधं'' ७-१-३० ''सम्बन्धाद् वृष्णयः'' १०-२९-१५ ''ऐक्यं'', ७-१-३०''स्नेहाद्यूयं'', १०-२९-१५ में द्वितीयान्त विभक्ति भेद का ही अन्तर है। ७-१-३० में प्रयुक्त ''सम्बन्धाद्'' शब्द को ही महर्षि ने १०-२९-१५ में ऐक्यं कह कर अभ्यास किया। ''ऐक्यं

सम्बन्धः'' भागवत् १०-२९-१५ भावार्थ दीपिका श्रीधर स्वामी। महर्षि वाल्मीकि भी ''ऐक्य'' शब्द का सम्बन्ध ही अर्थ मानते हैं—

''राम सुग्रीवयोरेवं देव्यैक्यं समपद्यत''

हनुमान जी कहते हैं कि— हे देवि! इस प्रकार भगवान् राम और सुग्रीव का 'ऐक्य' अर्थात् सम्बन्ध स्थापित हो गया। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि यहाँ ''एकत्व'' सम्बन्ध के अर्थ में प्रयुक्त है न कि अद्वैत के अर्थ में। ऐसे सेवकसेव्यभाव का चिन्तन करता हुआ साधक मोहशोकात्मक संसारसागर से पार हो जाता है। स्वयं गोस्वामी जी भी मानस के उत्तर काण्ड में भुशुण्डी जी से कहलवाते हैं—

सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि।
भजिय राम पद पंकज अस सिद्धान्त विचारि॥

—*(मानस ७-११९ (क))*

इस प्रकार इस मन्त्र में श्रुति ने यह तथ्य स्पष्ट किया कि— जब तक जीव का परमात्मा के साथ सेवकसेव्यभावसम्बन्ध नहीं निश्चित रहता, तभी तक वह मोहमहासागर में गोते लगाता हुआ शोकातुर होता रहता है। जब वह प्रभु से अपना कोई सम्बन्ध जोड़ लेता है, तब परमानन्द को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है॥ श्री॥

संगति– इस प्रकार ब्रह्म और जीव के एकत्वपर्यायवाची सम्बन्ध का चिन्तन करने से साधक को क्या लाभ होगा? इस प्रकार की जिज्ञासा का समाधान करती हुयी श्रुति आगे कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायम-
व्रणमस्नाविर ँ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽ-
र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ''कविः'' जो परमात्मा क्रान्तदर्शी और ब्रह्मा के भी नियामक हैं, ''मनीषी'' मन के नियन्ता और प्रशस्त बुद्धि से युक्त, ''परिभूः'' भक्त के दोष को नष्ट करने वाले तथा सर्वश्रेष्ठ 'स्वयंभूः' सांसारिक क्रिया की अपेक्षा किये विना भक्तों के समक्ष स्वयं प्रकट होने वाले ऐसे परमात्मा, ''शाश्वतीभ्यः'' भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली, ''समाभ्यः''

भगवद्भक्ति से युक्त प्रजाओं के लिये, ''याथातथ्यतः'' पूर्णरूप से, ''अर्थान् व्यदधात्'' कामनाओं को सम्पन्न किया, अर्थात् भक्तों द्वारा अभिलषित सभी कामनायें पूर्ण की। ऐसे ''अकार्य'' अव्यक्त एवं चिन्मय शरीर वाले, ''शुक्रं'' सभी दोषों से मुक्त होने के कारण तेजोमय श्वेत दिखने वाले, ''अव्रणं'' जिसके शरीर में कोई भी घाव नहीं, और जिन्हें रावण आदि के शस्त्र भी घायल नहीं कर पाये, ''अस्नाविरं'' जो सामान्य शिराओं से रहित हैं, ''शुद्धं'' जो सर्वदा पवित्र हैं, ''अपापविद्धं'' जिन्हें पाप विद्ध नहीं कर पाया, ऐसे दशलक्षण सम्पन्न परमात्मा को ''सपर्यगात्'' सेवकसेव्यभावसम्बन्ध का चिन्तन करनेवाला साधक प्राप्त कर लेता है ॥ श्री ॥

भावार्थ– जो परमात्मा क्रान्तदर्शी तथा ब्रह्म के भी नियामक हैं तथा जो मन की नियन्ता और निर्मल बुद्धि से सम्पन्न हैं, जो भक्तों के क्लेश हरण करने वाले और संसार की जन्म क्रिया के विना ही भावुक भक्तों के समक्ष प्रकट हो जाते हैं तथा जिन्होंने अपने से सम्बन्ध रखनेवाली भक्तियुक्त प्रजाओं के लिये उन्हीं की भावनाओं के अनुसार यथार्थ रूप से पदार्थों का निर्माण किया, उन्हीं परमपवित्र प्राकृतशरीर से रहित पाप के घावों से अछूते तथा रावण आदि के शस्त्रों से भी न घायल होने वाले, सामान्य रक्त की धमनियों से रहित परं विशुद्ध निष्पाप दशगुण परमात्मा को सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध से भजन करने वाला साधक प्राप्त कर लेता है ॥ श्री ॥

व्याख्या– अब श्रुति सेवकसेव्यभाव सम्बन्ध से भगवद्भजन करने वाले साधक का फल कहती है। श्रुति का विश्वास है कि ''एकत्व'' अर्थात् किसी सम्बन्ध से भगवान् का भजन करनेवाला साधक भगवान् को प्राप्त ही कर लेता है। कैसे हैं वे भगवान्? इस पर श्रुति ने भगवान् के दश लक्षण कहे, जिनमें चार प्रथमान्त से, छह द्वितीयान्त से। भगवान् कवि हैं, उन्हें तीनों काल का ज्ञान है, अथवा 'क' याने ब्रह्म का भी नियमन करते हैं। भगवान् मनीषी भी हैं, उनके पास प्रशस्त निर्मल बुद्धि है। वे सबसे ऊपर और स्वयं प्रकट होने वाले हैं। उनको कभी माया मलिन नहीं कर पाती, उनका शरीर हमारे जैसा प्राकृत नहीं है। वे 'चिन्मय' हैं—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी । विगत विकार जान अधिकारी ॥

—(मानस २-१२७-५)

उनके शरीर में कोई घाव नहीं है, और नहीं उनमें सामान्य शिरायें हैं। वे शुद्ध तथा निरन्तंर निष्पाप हैं। ऐसे परमात्मा को वह साधक प्राप्त कर

लेता है जो भगवान् को स्वामी और अपने को सेवक मानता है। यहाँ "पर्यगात्" शब्द में लट् के अर्थ में लुङ्लकार का प्रयोग है, अर्थात् 'परिगच्छति' के अर्थ में "पर्यगात्" शब्द पढ़ा गया है। शान्त-वात्सल्य-दास्य-सख्य और मधुर इनमें से किसी भी सम्बन्ध से भजन करके भक्त भगवान् को प्राप्त कर लेता है यही श्रुति का अर्थ है॥ श्री॥

संगति– जो परमात्मा का भजन छोड़ कर विद्या और अविद्या की उपासना करते हैं; उनकी क्या गति होती है ? विद्या और अविद्या में क्या अन्तर है ? इन दोनों का समुच्चय हो सकता है या नहीं ? इन तीन प्रश्नों का समाधान करने के लिये तीन श्रुतियाँ प्रस्तुत हो रही हैं॥ श्री॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ् रताः ॥९॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– "ये" जो लोग "अविद्यामुपसाते" कर्मकाण्ड रूप अविद्या की उपासना करते हैं, वे "अन्धं तमः प्रविशन्ति" भगवत् स्वरूप का विस्मरण कराने वाले घोर नरक में पड़ते हैं। किन्तु "ये" जो लोग "उ" निश्चय ही "विद्यायां रताः" किसी एक देवता की उपासना में लग जाते हैं, वे तो "ततः" उससे भी "भूयः तमः" अधिक अन्धकार युक्त नरक में "इव प्रविशन्ति" प्रवेश करते हैं॥ श्री॥

भावार्थ– जो लोग भगवान् का भजन छोड़ कर केवल अविद्या अर्थात् वेदविहित सकामकर्म ही करते हैं, वे घोर अन्धकारमय नरक में पड़ते हैं। और उनसे भी अधिक घोर नरक में वे पड़ते हैं जो भगवद् भजन और कर्मकाण्ड दोनों छोड़कर किसी विशेष फल से देवता विशेष की उपासना करते हैं॥ श्री॥

व्याख्या– पूर्वाचार्यों के मत में "अविद्या" शब्द कर्मकाण्ड का वाचक है, और "विद्या" शब्द देवोपासना का, इसके पोषण में वे "अविद्यया पितृलोकः विद्यया देवलोक;" अर्थात् अविद्या से पितृलोक की प्राप्ति होती है और विद्या से देवलोक की इन दो श्रुतियों का उदाहरण देते हैं। उनके मत में जो लोग भगवद्भजन छोड़कर केवल कर्मकाण्ड में ही लगे रहते हैं, वे "अन्धं तमः" अर्थात् घोर नरक में पड़ते हैं। पर उनसे भी अधिक घोर नरक में वे पड़ते हैं जो भगवद्भजन और वैदिक कर्म दोनों छोड़ कर किसी एक देवता की उपासना रूप विद्या में लग जाते हैं। वस्तुतः यहाँ हमारा

मत कुछ अलग है, यहाँ ''अविद्या'' शब्द कर्मकाण्डपरक, और ''विद्या'' शब्द भगवद्भाव से रहित शुष्कज्ञान के अर्थ में है। ''अविद्या'' अर्थात् कर्मकाण्ड उतना हानिकारक नहीं है जितना कि भगवान् के प्रेम से रहित शुष्कज्ञान। इसलिये यहाँ दोनों का समुच्चय इष्ट है॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति विद्या और अविद्या दोनों की फल के भेद से विलक्षणता प्रस्तुत करती हैं, अर्थात् अलग-अलग रहकर ये दोनों पृथक-पृथक फल देती हैं, और जब दोनों मिल जाती हैं तब इनका भगवान् की प्राप्ति रूप फल में ही विश्राम हो जाता है।

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥१०॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– ''विद्यया'' ज्ञानकाण्डरूप विद्या से प्राप्त ''अन्यत् एव फलम् आहु:'' श्रुतियों ने दूसरा ही फल कहा है, और ''अविद्यया'' कर्मकाण्ड रूप अविद्या से प्राप्त फल ''अन्यत् आहु:'' पूर्व से विलक्षण पितृलोक रूपफल श्रुतियों ने कहा है। ''इति'' इस प्रकार से ''धीराणां'' धीर पुरुषों के पास से ''शुश्रुम'' हमने सुना है, ये धीर जो महात्मा जन ''न:'' हम लोगों के लिये ''तत्'' विद्या और अविद्या के रहस्य की ''विचचक्षिरे'' व्याख्या किये थे॥ श्री ॥

व्याख्या– श्रुति कहती है कि— जिन धीर पुरुषों ने कृपा करके हमें विद्या और अविद्या का रहस्य समझाया था, उनके पास से हमने ऐसा सुना है कि 'विद्या से प्राप्त होने वाला फल दूसरा है, और अविद्या से प्राप्त होने वाला फल दूसरा है।' ऐसा दोनों के सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहती हैं—

''विद्यया देवलोकम्'' ''अविद्यया पितृलोकं'' विद्या से देवलोक मिलता है, और अविद्या से पितृलोक। ये दोनों ही पतनशील हैं। ''आहु:'' शब्द में आदरार्थक बहुवचन है। ''शुश्रुम'' ''विचचक्षिरे'' इन दोनों स्थलों पर परोक्ष में लिट् लकार हैं। अर्थात् हमें सन्तों ने सुनाया और हमने सुना पर कब सुनाया और कब सुना इस समय का हमें ज्ञान नहीं है, क्योंकि यह परम्परा अनादि है॥ श्री ॥

संगति– अब श्रुति विद्या और अविद्या (कर्म और ज्ञान) का समुच्चय कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ् सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।११।।

रा० कृ० भा० सामान्यार्थ– 'य:' जो, 'विद्याम् अविद्याम् च' विद्या और अविद्या, 'तत् उभयम् वेद' इन दोनों को एक साथ समुच्चय के द्वारा जानता है, वह 'अविद्यया' कर्मकाण्ड से 'मृत्युं तीर्त्वा' मरणधर्मा संसार को पार करके 'विद्यया' विद्या द्वारा 'अमृतमश्नुते' अमृतत्व परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।। श्री ।।

व्याख्या– जो व्यक्ति विद्या और अविद्या इन दोनों को समुच्चित करके भगवत्प्राप्ति में सहायक जानता है, वह अविद्या से संसार को पार करके विद्या देवोपासना अथवा ज्ञान से अमृत रूप परमात्मा को प्राप्त करता है। भले ही कोई कर्मज्ञान का समुच्चय न मानता हो पर कर्म और उपासना का समुच्चय तो मानना ही पड़ेगा। कर्म से भजन विरोधी मल नष्ट होते हैं और उपासना से विक्षेप समाप्त हो जाते हैं और अन्ततोगत्वा ज्ञान से आवरण भंग करके जीव भगवान् को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि हमारे मत में तो ज्ञान का कर्म से समुच्चय है ही, इसीलिये श्रुति में दो बार चकार का प्रयोग करके विद्या और अविद्या (कर्म-ज्ञान) इन दोनों का समुच्चय कहा गया। ज्ञान के विना कर्म अधूरा और कर्म के विना ज्ञान निरर्थक। इसलिये स्मृति ने कहा "ज्ञात्वा-ज्ञात्वा प्रकुर्वीत" अर्थात् ज्ञानपूर्वक ही कर्म करना चाहिये। जो लोग ज्ञान का कर्म से समुच्चय नहीं मानते वे न्यायत: वेदविरोधवादी बौद्धदर्शन से प्रभावित हैं। ज्ञान से कर्म का समुच्चय न मानने के कारण ही दो हजार वर्ष तक भारत ने विदेशी आक्रमण झेले, और तथाकथित कर्मरहित ज्ञानवादियों ने भारत को नपुंसकप्राय बना डाला। वस्तुत: कर्म से शून्य ज्ञान लंगड़ा और ज्ञान विहीन कर्म अन्धे जैसा है। इन दोनों का भगवद् उपासना रूप प्रयाग में समुच्चय हो जाता है, इसीलिये हम सबको निष्काम बुद्धि से भगवान् की सेवा मानकर समाज का प्रत्येक कर्म करना चाहिये।। श्री ।।

संगति– अब भगवती श्रुति सम्भूति और असम्भूति की उपासना, दोनों के फलों में विलक्षणता तथा दोनों का समुच्चय कहती हैं। आने वाले तीन मंत्रों के अक्षरार्थ विचार के पहले हम भूमिका के रूप में सम्भूति और असम्भूति शब्दों पर विचार करेंगे। कुछ लोग सम्भूति शब्द से अव्याकृत और असम्भूति शब्द से व्याकृत उपासना को ग्रहण करते हैं। और कुछ लोग सम्भूति शब्द से परब्रह्म और असम्भूति शब्द से हिरण्यगर्भ की उपासना

मानते हैं। पर ये दोनों अर्थ यहाँ के प्रकरण से विरुद्ध हैं, इसलिये हम इन्हें नहीं स्वीकार सकते। क्योंकि परब्रह्म और हिरण्यगर्भ की उपासना से जीव को रौरव नरक की प्राप्ति होगी, यह कहना बहुत अनुचित है। इसी प्रकार व्याकृत उपासना से तो नरक की कल्पना करना भी पाप है। मेरे मत में यहाँ 'सम्भूति' शब्द पराप्रकृतिक के अर्थ में प्रयुक्त है, जो जीवनरूपा है। इसी में सम्यक् भूति अर्थात् ऐश्वर्य है ''सम्यक् भूतिः यस्यां सा सम्भूतिः'' और इसी के द्वारा जन्म-पालन और संहार के माध्यम से जीव इकट्ठे किये जाते हैं। इसी प्रकार अपरा प्रकृति को असम्भूति कहते हैं; यह भूमि-जल-अग्नि-वायु-आकाश-मन-बुद्धि और अहङ्कार नाम से आठ प्रकार की होती है। इसमें पूर्ण ऐश्वर्य नहीं होता, इसलिये इसे असम्भूति कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्हीं परा-अपरा प्रकृतियों की गीता (अ० ७/४-५) में चर्चा की है। इन्हीं की गीता (अ० १५/१६-१८) में क्षर और अक्षर नाम से चर्चा की गयी है। परा प्रकृति ही सम्भूति-अक्षर और जीव है, अपरा प्रकृति असम्भूति-क्षर और अचित् है। जड़ अर्थात् अपरा प्रकृति की उपासना से व्यक्ति अधोगति को प्राप्त होता है, और उससे भी अधिक अधोगति तब होती है, जब वह जीवभूत परा प्रकृति सम्भूति की उपासना करता है॥ श्री॥

क्योंकि यहाँ अहंकार की संभावना अधिक हो जाती है। यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि ''अहं ब्रह्म'' जैसे श्रुति वाक्यों की संगति कैसे लगेगी? तो इसके दो उत्तर दिये जा सकते हैं। पहला तो यह कि— ब्रह्म और जीव का शरीर-शरीरिभाव संबन्ध है, अतः एकवचन वाला होता है। जैसे 'नीलो घटः'' यहाँ शब्दार्थ होगा ''नीलाभिन्नो घटः'' अथवा ''अभेद सम्बन्धेन नीलविशिष्टो घटः।'' उसी प्रकार ''अहं ब्रह्मास्मि'' में शरीरशरीरिभावसम्बन्धेन ''अहम् अभिन्नं ब्रह्म।'' और दूसरा समाधान यह है कि— प्रकृत मन्त्र में पढ़ा हुआ ब्रह्मशब्द चतुर्थी एकवचन विभक्ति से जुड़ा हुआ है, पर उस विभक्ति का ''सुपां सुलुक्'' सूत्र से लोप हो गया है। अतः ''अहं ब्रह्मास्मि'' का अर्थ होगा ''अहं ब्रह्मणे अस्मि'' मैं ब्रह्म के लिये हूँ॥ श्री॥

अतः 'सम्भूति' और 'असम्भूति' शब्द क्रम से परा और अपरा प्रकृति के बोधक हैं। इसी प्रकार पूर्ववर्णित विद्या और अविद्या के संबन्ध में भी मेरा एक नया पक्ष है। विद्या और अविद्या ये दोनों भगवान् की माया के ही भेद हैं। अविद्या अत्यंत दुष्ट और दुःखरूप है, यही जीव को संसार कूप में डालती है। ठीक इसके विपरीत विद्या त्रिगुणात्मिका होने से भगवान् की प्रेरणा के आधार पर जगत् की रचना करती है। यह तथ्य मानस अरण्यकाण्ड १५-४

से ७ तक स्पष्ट है। साधक को इन दोनों से विलक्षण परमात्मा को पाने के लिये यत्न करना चाहिये। इस प्रकार विद्या और अविद्या, तथा सम्भूति और असम्भूति इन दोनों के नवीनतम भाव केवल श्रीराघव की कृपा ने मुझे सुझाये। अब आइये मन्त्रों के अक्षरार्थ पर विचार कीजिये ॥ श्री ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याँ् रताः ॥१२॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– जो लोग संसारिक सुख की इच्छा से "असम्भूति" अर्थात् क्षरस्वभाववाली अपरा पृथ्वी आदि आठ रूपों में विभक्त प्रकृति की उपासना करते हैं, वे भगवद् ज्ञान का हरण करने वाले घोर अन्धकारमय लोक को प्राप्त करते हैं। पर उनसे भी अधिक घोर अन्धकारात्मक लोक को वे प्राप्त करते हैं, जो लोग निश्चय करके केवल सम्भूति अर्थात् अक्षरात्मिका जीवरूपा परा प्रकृति में ही राग मानते हैं। यहाँ "तमः" शब्द तमोमय लोक का बोधक है। इस प्रसंग की विशद व्याख्या संगति में ही की जा चुकी है ॥ श्री ॥

संगति– अब सम्भूति और असम्भूति की विलक्षणता कही जाती है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ "सम्भव" शब्द सम्भूति का और "असम्भव" शब्द असम्भूति का वाचक है। श्रुतियों ने सम्भव अर्थात् सम्भूति से प्राप्त होने वाले फल को अन्य स्वरूप वाला, तथा "असम्भव" अर्थात् "असम्भूति" से प्राप्त होने वाले फल को अन्य स्वरूप वाला कहा है। इस प्रकार हमने उन धीर पुरुषों के श्रीमुख से सुना है जिन्होंने कृपा करके हमें "सम्भूति" और "असम्भूति" के रहस्य बताये ॥ श्री ॥

अर्थात् "सम्भूति" रूप परा प्रकृति उपासना का फल है अणिमादि सिद्धियों का भोग एवं "असम्भूति" अर्थात् अपरा प्रकृति का फल है सांसारिक निकृष्ट योनियों की प्राप्ति ॥ श्री ॥

संगति– अब सम्भूति और असम्भूति समुच्चय कहती है—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ् स ह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– यहाँ "विनाश" शब्द असम्भूति का पर्याय है, इसी से इसका क्षरा प्रकृति होना सिद्ध हो जाता है। दो बार 'च' कार

कह कर श्रुति ने दोनों का समुच्चय कहा है। अर्थात् जो साधक ''सम्भूति'' याने अक्षरात्मिका पराप्रकृति, तथा ''विनाश'' याने ''असम्भूति'' क्षरा अपरा प्रकृति इन दोनों को समुच्चय के साथ भगवान् की उपासना सहायक जानता है, वह विनाश अर्थात् ''असम्भूति'' अपरा प्रकृति की उपासना से मृत्युरूप संसार सागर को पार करके अनन्तर ''सम्भूति'' अर्थात् परा प्रकृति की उपासना की सहायता से इन दोनों से विलक्षण चिदचिद्विशिष्ट रूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। ये दोनों प्रकृतियाँ अलग-अलग उपाश्रित होकर क्रम से अणिमादिक भोग तथा सांसारिक निकृष्ट भोगरूप फल देती हैं और यही भगवान् की उपासना में सहायक बन कर समुच्चय में परमात्मा के दर्शन की भूमिका भी निभाती हैं।। श्री।।

संगति– यहाँ तक के उपनिषद् भाग से श्रुति ने ब्रह्म की व्यापकता भगवन्निमित्तकर्म तथा जीव के शोक-मोहसंतरण का उपाय एवं दो प्रकरणों से छः मन्त्रों में उपासना का रहस्य भी कहा। अब श्रुति उपनिषद् के अन्तिम अंश से भगवान् की समीपता प्राप्त करने के लिये चार मन्त्रों में प्रार्थना का प्रकार कह रही है। इस प्रकरण के पूर्व दो मन्त्रों में परमात्मा को ही सूर्य रूप में देखा गया है, और अन्त के दो मन्त्रों में वायु और अग्नि के नाम से ईश्वर की ही प्रार्थना की गयी है। यहाँ यह सतत ध्यान रखना होगा कि इन्द्र-वरुण-अग्नि-वायु आदि नामों से वेद ने भगवान् की ही स्तुति की है। जैसा कि ऋग्वेद में कहा भी गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं
यमं मातरिश्वानमाहुः।।

—(ऋग्वेद १-१६४-४६)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।१५।।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– हे पूषन्! सारे संसार के पोषक परमात्मा, ''हिरणमयेन पात्रेण'' पात्र के समान स्वर्णमय ज्योतिःपुञ्ज से ''सत्यस्य मुखम् अपिहितं'' सत्यस्वरूप आपका मुखस्वरूप द्वार ढका हुआ है। ''तत्'' उस स्वरूप को ''सत्यधर्माय'' सत्य भगवद् भजन ही जिसका धर्म है, ऐसे मुझ

साधक के लिये ''दृष्टये'' ठीक-ठीक दर्शन करने के लिये ''त्वम् अपावृणु'' आप खोल दीजिये ।। श्री ।।

व्याख्या– यहाँ ''हिरण्मय'' शब्द तेज:पुञ्ज अर्थ में प्रयुक्त है, जैसे स्वर्ण के पात्र से किसी का मुख ढका हो तो सामान्य दर्शक को स्वर्ण का पीला स्वरूप ही दिखेगा, अन्दर रखी हुयी वस्तु नहीं दिखेगी। उसी प्रकार संसार की चकाचौंध में छिपे परमात्मा नहीं दिखते। साधारण व्यक्ति को संसार की चकाचौन्ध ही दिखती है, अर्थात् भौतिकवाद की चटक-मटक में अध्यात्मवाद छिप जाता है। वह तो परमात्मा की कृपा से ही इस कठिन काल में साधक को प्रतीत हो पाता है। अत: श्रुति कहती है— जैसे कोई ढके हुये अपने मुख को स्वयं चाह कर ही खोल सकता है, उसी प्रकार यदि भगवान् ही चाहें तो ही इस भौतिकवाद के भड़कीले पर्दे को हटाकर अपना स्वरूप दिखा दें। श्रुति कहती हैं ''सत्यधर्माय'' अर्थात् मैं सत्यधर्म हूँ, सत्य अर्थात् आपका भजन ही मेरा धर्म है। इसीलिये सत्यस्वरूप के दर्शन का मुझे अधिकार है। अब इस मन्त्र का एक और आध्यात्मिक अर्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवान् का स्वरूप सूर्यमण्डल में विराजमान हैं, और प्राणि की दाहिनी आँखें में भी, यह बात ''बृहदारण्यक'' तथा ''छान्दोग्य उपनिषद्'' एवं अन्य स्मृतियों में भी बड़े समारोह से प्रस्तुत की गयी है। जैसे ''बृहदारण्यक'' उपनिषद् में वर्णन आता है— ''तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो एव एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यथा यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष:'' इसी प्रकार रामस्तवराज के ४९ वें श्लोक में भी भगवान् नारद कहते हैं ''सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्'' अर्थात् मैं सूर्यमण्डल में स्थित सीता सहित भगवान् श्रीराम को प्रणाम करता हूँ। इस दृष्टि से भगवती श्रुति कहती है— हे परमेश्वर! आपका वह सीताभिराम लोकलोचनाभिराम नीलकमलदलश्याम मंगलमय स्वरूप सूर्यमण्डल से उसी प्रकार ढका हुआ है जैसे कोई अमृत जैसा बहुमूल्य द्रवपदार्थ किसी चमकीले सुवर्ण पात्र से ढका हुआ है। अथवा जैसे किसी का सुन्दर मुख किसी चमकीले तेजस्वी परदे से ढका हुआ होता है। आपका स्वरूप निहारने में सूर्यमण्डल की ये किरणें मेरे लिये बाधक हो रही हैं, इनसे मेरी दृष्टि चकपका रही है। इसे हे सूर्य के भी सूर्य इस ढक्कन अथवा इस पर्दे को आप हटा लीजिये, जिससे मैं आपको ठीक-ठीक देख सकूँ। भगवान् पूछते हैं क्यों हटा लूँ? तब श्रुति कहती है ''दृष्टये'' मेरी दृष्टि को सुख देने के लिये। क्योंकि इस चाकचिक्य में मैं आपको नहीं देख सकूँगा। भगवान् कहते हैं— मेरे दर्शन से तेरा क्या लेना देना? तब

श्रुति के माध्यम से साधक कहता है ''सत्यधर्माय'' सत्यो धर्मः यस्य तस्मै'' मेरा सत्य ही धर्म है, अभी तक मैं जो देख रहा हूँ, वह सब असत्य है, और वह मेरे लिये बहुत बड़ा अधर्म है। सत्य तो केवल आप और आपका स्वरूप है और वही मेरा धर्म है। अब तक मैं सपना देख रहा हूँ—

उमा कहहु मैं अनुभव अपना । सत हरि भजन जगत सब सपना ।।

—*(मानस ३-३८-५)*

इसीलिये हे परमात्मा! आप माया का चमकीला आवरण हटाकर मुझे अपने सत्यस्वरूप का दर्शन कराइये। कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह मन्त्र जीव की अन्तिम यात्रा की प्रार्थना का है। अर्थात् जब जीवात्मा संसार यात्रा को पूर्ण करके पाञ्चभौतिकशरीर छोड़ कर सूर्यमण्डल की इच्छा करता है, तब वह सूर्य नारायण से प्रार्थना करता है कि— प्रभो! मैं अपने सामर्थ्य से आपके मण्डल का भेदन नहीं कर सकता आप ही कृपा करके इस जयोतिर्मय परदे को हटा लीजिये, जिससे मैं सत्यधर्मा परमात्मा को निहार सकूँ। इन तीनों अर्थों में बीच का ही अर्थ साधक के लिये अधिक अनुकरणीय है।। श्री।।

संगति– अब साधक भागवान् के दर्शन में व्यवधायक तेजोमय किरणों को हटाने के लिये ही सूर्य नारायण से प्रार्थना करता है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्यप्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ
पुरुषः सोऽहमस्मि।।१६।

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– संसारयात्रा पूर्ण करके ब्रह्मलोक का यात्री सूर्यमण्डल के भेदन का इच्छुक जीवात्मा भगवान् सूर्य से प्रार्थना करता है। हे प्रभो! तुम पूषा अर्थात् सबके पोषक हो। तुम 'एक ऋषि' अर्थात् अद्वितीय आकाशगामी हो। तुम जीवों को दण्ड देने के लिये यमराज तथा सबके प्रेरक सूर्य हो। हे प्राजापत्य! प्रजापति कश्यप के पुत्र भगवान् सूर्य! 'रश्मीन् व्यूह' अपने किरणों को हटालो,जो तुम्हारा तेज है उसे समेट लो जिससे तुम्हारे मण्डल में छिपा हुआ जो कल्याणतम रूप है, उसे मैं देख सकूँ। जो तुम्हारे मण्डल में पुरुष दिख रहा है, और जो मेरी दाहिनी आँख के बीच विराजमान है, वह पुरुष मैं ही हूँ, अर्थात् उस पुरुष का अंशरूप जीवात्मा मैं हूँ। उस परमात्मा का मैं शरीर हूँ। ''यस्य आत्मा शरीरम्'' (बृ०उ० ३-७-२३) इसलिये उसका और मेरा अभेद सम्बन्ध से अन्वय है।

स्वरूप से परमात्मा से भिन्न रह कर ही उसे देखना चाहता हूँ अब इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ देखिये।

व्याख्या– भगवान् श्रीराम सूर्य के भी सूर्य हैं। जैसा कि वाल्मीकि रामायण २-४४ में स्पष्ट है। अत: सारे विशेषण भगवान् श्रीराम के ही गुणानुवाद में गतार्थ हो जाते हैं। हे सारे संसार के पोषक! भक्त के स्मरण मात्र से सर्वत्र उपस्थित होने वाले, 'एक' अर्थात् सभी उपमाओं से दूर, दुष्टों के लिये कोटि यमराज से भी भयंकर, सबके उर प्रेरक, ब्रह्मा आदि प्रजापतियों के भी देवता, हे प्रभु श्रीराम! आप अपनी मायामय रश्मियों को बटोर लीजिये, और अपने ऐश्वर्य प्रधान तेज को समेट लीजिये, इस विराट् स्वरूप को मैं नहीं देख सकूँगा। अर्जुन सरीखा महारथी भी इसे देख कर भयभीत हो गया "भयेन च प्रव्यथितं मानो मे" (गीता– ११-४५) तो मैं किस खेत की मूली। "यत्ते" अर्थात् आपका जो परम कल्याणमय नीले बादल के समान सुन्दर सीताभिराम धनुर्वाणोपलक्षित द्विभुज श्रीराम रूप है, "तत्ते पश्यामि" उसे मैं देखना चाहता हूँ। "असौ असौ यः पुरुषः" यहाँ प्राण के अर्थ में प्रयुक्त "असु" शब्द से औपश्लेषिक सप्तमी है संस्कृत में असु शब्द का प्राण अर्थ होता है, और उसका भानु की भाँति रूप चलता है। यहाँ वीप्सा में द्वित्व हुआ है, "असौ असौ" अर्थात् जो प्रत्येक जीव के प्राणों से चिपका हुआ परमात्मा है, वह मैं ही हूँ मैं अब देह-इन्द्रिय-मन और बुद्धि से ऊपर उठ कर आपकी शुद्ध सेवा करना चाहता हूँ। यहाँ "सः" शब्द परमात्मा का वाचक नहीं है, यहाँ जीवात्मा का ही बोधक है। यदि "असौ" शब्द से आदित्यमण्डल में विराजमान पुरुष ही लिया जाय तो भी "सः" शब्द तत् सदृश में लाक्षणिक होगा। जैसे "आत्मा वै जायते पुत्रः" पुरुष पिता की आत्मा होता है। इस श्रुति के अनुसार यदि पुत्र पिता की आत्मा ही है तो उसके जन्म के पश्चात् पिता की मृत्यु क्यों नहीं हो जाती? अत: यहाँ तत् सदृश में लक्षणा माननी पड़ती है। उसी प्रकार "सोऽहमस्मि" में भी तत् सदृश में लक्षणा माननी होगी। अर्थात् मैं भी सूर्य मण्डल में विराजमान पुरुष के (आप के) सदृश ही हूँ। क्योंकि मैं आपका पुत्र हूँ, अत: मुझे आपका रूप देखने का अधिकार है। भोगमात्र में जीवात्मा से परमात्मा के सादृश्य को तो 'ब्रह्मसूत्रकार' भी स्वीकारते हैं ॥ श्री ॥

"भोगमात्रसाम्यलिंगात्"

—(ब्र०सू० ४-४-१८)

अत: जो लोग "सोऽहमस्मि" शब्द को सुन कर विना सोचे-समझे अपने को ही परमात्मा बन बैठे हैं, वे भयंकर भूल कर रहे हैं। वस्तुत: जीवात्मा मुक्तावस्था में परमात्मा के ही समान भोगों का अधिकारी हो जाता है। "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै०उ० १-१) अर्थात् मुक्त जीव भगवान् के समीप रह कर भगवान् के साथ ही सभी भोगों को समान रूप से भोगता है, जेसे पुत्र पिता के साथ एक ही थाली में भोजन करता है। अत: "सोऽहमस्मि" का अर्थ है "तत् सदृश: अहमस्मि" मैं परमेश्वर का पुत्र होने से अथवा उनका शरीर होने से उन्हीं के समान हूँ॥ श्री॥

संगति– अब संसार से विरक्त हुआ, भगवान् के समीप जानेवाला, मुमुक्षु जीवात्मा इस नाशवान् शरीर की ममता त्यागकर बार-बार भगवान् के स्मरण की प्रार्थना करता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ् शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृत ँ् स्मर क्रतो स्मर कृत ँ् स्मर॥१७॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र के भी तीन अर्थ होंगे।

(१) वायु ही अनिल सूक्ष्म वायु और अमृत सबका जीवनधारक है। हे ओंकार स्वरूप परमात्मा! अथवा हे जीवात्मा! तुम अपने किये हुये कर्मों का स्मरण करो, और भगवान् के किये हुये उपकारों का स्मरण करो॥ श्री॥

(२) "ओम्" हे सारे संसार के रक्षक परमात्मा! "अथ" यह शरीर छोड़ने के पश्चात् मेरा यह पञ्चप्राणात्मक वायु "अनिलम्" अर्थात् आपके विभूतिरूप पवन देवता में प्रवेश कर जाय और वह पवन देवता "अमृतम्" अमृतरूप आपमें विलीन हो जाय। "शरीरं भष्मान्तं" मेरा यह मरा हुआ शरीर परिजनों द्वारा अन्त्येष्टि की विधि से भष्म कर दिया जाय। हे क्रतो! यज्ञेश्वर भगवान् श्रीराम "कृतं स्मर" यदि मैंने जीवन में कोई सत् कर्म किया हो तो उसे स्मरण कीजिये, विकर्मों को भूल जाइये। हे यज्ञमय परमात्मा! मेरे द्वारा किये हुये आपके नित्यसेवारूप संकल्प को स्मरण कीजिये, और मेरी अयोग्यता को भूल जाइये, अब मैं आपका नित्य परिकर बनना चाहता हूँ॥ श्री॥

(३) यहाँ पुत्रवत्सला भगवती श्रुति जीव को उपदेश दे रही हैं कि हे जीवात्मा! अब तो तुम्हारे पास कुछ भी नहीं रह रहा है, तुम्हारा प्राणवायु सूक्ष्मवायु में मिल जाय, और वह वायु भी अमृतरूप भगवान् में लीन हो

जाय और तुम्हारा हाड़मांस का शरीर लोगों द्वारा जला दिया जाय, तुम [illegible]
चिन्ता मत करो। हे संकल्पमय! तुम तो पहले अपने कुकृत्यों का [illegible]
करो और उनके बदले में अपने साथ किये हुये भगवान् के उप[illegible]
स्मरण करो। भगवान् ने कितनी कृपा करके तुम्हें मानव शरीर दिया [illegible]

संगति– उपनिषद् के अन्तिम मन्त्र में भगवान् की विभूति अ[illegible]
नाम स्मरण व्याज से साधक जीवात्मा भगवान् का स्मरण करता हु[illegible]
सुन्दर मार्ग से अपने समीप ले जाने के लिये परमात्मा से प्रार्थना [illegible]
हुआ परमेश्वर के भजन में बाधक अपने पापों को नष्ट करने के लिये [illegible]
से अनुरोध करता हुआ, भगवान् का नित्य परिकर जीवात्मा प्रभु के [illegible]
पंकजों में कोटि-कोटि प्रणाम निवेदित कर रहा है। यह श्रुति संहिता[illegible]
की श्रुतियों की शिरोमणि है—

अग्ने नय सुपथा राये
अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

रा०कृ०भा० सामान्यार्थ– इस मन्त्र के भी दो अर्थ हैं—

प्रथम अर्थ– कर्मकाण्ड की दृष्टि से यह अग्नि की प्रार्थना है। [illegible]
शब्द संस्कृत में ऐश्वर्य का वाचक है, "एनः" शब्द का अर्थ पाप, [illegible]
"जुहुराण" शब्द कुटिल के अर्थ में प्रयुक्त होता है।"वयुनि" शब्द यहाँ सं[illegible]
अथवा कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अन्त्येष्टि के समय जीवात्मा [illegible]
से प्रार्थना करता हुआ कहता है, हे अग्निदेव! आप हमारे सुकृत और दु[illegible]
को जानते हैं, फिर भी हमें मोक्षरूप लाभ के लिये 'सुपथ' अर्थात् दे[illegible]
से ले जाइये। इस कुटिल पाप को हम से अलग कर दीजिये, हम [illegible]
चरणों में अनेक नमस्कार निवेदित कर रहे हैं॥ श्री॥

द्वितीय अर्थ– वेदों के महातात्पर्य परब्रह्म भगवान् श्रीराम की [illegible]
के रूप में है। यहाँ अग्नि शब्द पूज्य और अग्रगामी के अर्थ [illegible]
हुआ है, "अग्रे नीयते इत्यग्निः" हे सभी देवताओं में पूज्य [illegible]
भगवान् राम! "विश्वानि वयुनानि विद्वान्" हमारे सभी सुकर्म कु[illegible]
जानते हुये भी आप उन पर ध्यान न दें, और हमें "राये" [illegible]
सेवारूप धन के लिये "सुपथा नय" श्रीवैष्णवों के चरण कमलों [illegible]

मार्ग से ही साकेत लोक ले चलिये। आपके भजन में बाधक ''जुहुराण'' अर्थात् इस कुटिल पाप को ''अस्मद् युयोधि'' हम से दूर करिये। हम आपके चरणों में अनेकानेक नमस्कार की उक्ति निवेदित करते हैं। ''नमसाम् उक्तिः नम उक्तिः''। आशय यह है कि— अब तो हमारा शरीर ही नहीं रहा, जिससे हम आपको साष्टाङ्ग प्रणाम कर सकें। इस समय तो केवल अपने संकल्प की सूक्ष्म वाणी से हम नमः-नमः ही कह सकते हैं।

इस उपनिषद् का शास्त्रार्थ इस प्रकार समझना चाहिये— ''ईशावस्योपनिषद्'' के अठारह मन्त्रों से श्रुति ने गीता के अठारह अध्याय, महाभारत के अठारह पर्व, अठारह पुराण, अठारह स्मृतियों, भागवत के अठारह हजार श्लोक तथा अठारह विद्याओं के परम तात्पर्यरूप परब्रह्म भगवान् श्रीसीताराम का ही गान किया है। प्रथममन्त्र में परमेश्वर का स्मरण, द्वितीय मन्त्र से चित् स्वरूप जीव की व्याख्या, तृतीय मन्त्र से अचित् का वर्णन, पुनः दो मन्त्रों से चिदचिद्विशिष्ट परमात्मा का निर्वचन, फिर दो मन्त्रों से विशिष्टाद्वैतवाद की प्रक्रिया से परमात्म दर्शन, अष्टममन्त्र से भगवद् दर्शन का फल, अगले छः मन्त्रों से ज्ञान और कर्म का समुच्चय, तथा दो मन्त्रों में परमेश्वर के स्वरूप दर्शन की प्रार्थना, एवं अन्त के दो मन्त्रों में शरणागति के सिद्धान्त का वर्णन। इस प्रकार सम्पूर्ण ईशावास्योपनिषद् भगवान् की शरणागति रूप प्रपत्ति में ही गतार्थ हो जाती है। और यही श्रीमदाद्यरामानन्दाचार्य भगवान् का सर्वश्रुतिसम्मत मन्तव्य भी है॥ श्री॥

ईशावास्य उपनिषद् भाषा भाष्य मनोरम
राघव कृपा सुनाम सकल वैष्णव हृदयङ्गम।
तुलसी पीठाधीश्वर निज मंजुल मति भाष्यो
रामानन्दाचार्य रामपदरज अभिलाष्यो॥
सीतारामकृपाविमलश्रुतिसम्मत व्याख्या करी
रामभद्र आचार्य मन शिशु राघव मूरति धरी॥

॥ श्री सीतार्पणमस्तु॥

॥ इति श्रीचित्रकूटपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीरामानन्दचार्य प्रणीत श्रीईशावास्योपनिषद् का श्रीराघवकृपाभाष्य सम्पूर्ण हुआ॥ श्री॥

॥ श्रीराघवः शन्तनोतु॥

●

।। श्रीः ।।

ध्रुवमिदं, विश्वस्य विश्वेऽपि विचरकाश्चामनन्ति यज्जीवेनात्यन्तिकं सुखं नोपलब्धुं शक्यते केवलैः सांसारिकैर्भोगैः। तत्कृते तु तैः जगन्नियन्तुः परमात्मनः शरणमेवाङ्गीकरणीयम्। अनादिकालादेव सर्गेऽस्मिन् ब्रह्मजिज्ञासासमाधानपराः विचाराः प्रचलन्ति। विषयेऽस्मिन् सर्वे दार्शनिकाः सहमता यद्वेदैरेवास्य गूढरहस्यात्मकस्य परब्रह्मणः प्रतिपादनं सम्भवम्।

परब्रह्मणो निश्वासभूता अनन्तज्ञानराशिस्वरूपाः वेदाः ज्ञानकर्मोपासनाख्येषुत्रिषु काण्डेषु विस्कृताः सन्ति। एषां ज्ञानकाण्डाख्य उपनिषद्भागे वेदान्तापरनामधेया ब्रह्मविद्या वैशद्येन विर्वोचता व्याख्याता चास्ति। आसामुपनिषदां सम्यग्ज्ञानेनैव ब्रह्मज्ञानं तेन च भवदुःखनिवृत्तिरित्युपनिषदां सर्वातिशायिमहत्वं राद्धान्तयन्ति मनीषिणः। आसु प्रश्नोत्तरात्मकातिरमणीयसुमम्यसरलशैल्या जीवात्मपरमात्मनोर्जगतश्च विस्तृतं व्याख्यानं कृतमस्ति। अनेकैर्महर्षिभिरनेकैः प्रकारैरुद्भावितानां ब्रह्मविषयकप्रश्नानां समाधानानि ब्रह्मवेतृणां याज्ञवल्क्यादिमहर्षीणां मुखेभ्य उपस्थापयन्त्युपनिषदः। भगवता वेदव्यासेन ब्रह्मसूत्रेषु भगवता श्रीकृष्णेन च श्रीगीतायामासामेव सारतत्वं प्रतिपादितम्।

भारतीयदर्शनानामाधारभूता इमे त्रयो ग्रन्थाः विभिन्नसम्प्रदायप्रवर्तकैराचरयैर्व्यख्याताः। एष्वद्वैतवादिन आद्यशङ्कराचार्याः प्रमुखा, अन्ये च द्वैतशुद्धाद्वैतद्वैताद्वैतशिवाद्वैतदिवादिनो विद्वांसः स्वस्वमतानुसारमुपनिषदः व्याख्यापयांबभूवुः।

अथ साम्प्रतिकभारतीयदार्शनिकमूर्धन्यैर्वेदवेदाङ्गपारङ्गतैर्धर्मध्वजधारिधौरेयैः श्रीरामानन्दाचार्यैः श्रीरामानन्दाचार्य श्रीरामभद्राचार्यमहाराजैर्विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमनुसृत्य कृतामिदमुपनिषदां **''श्रीराघवकृपाभाष्यम्''** सर्वत्रैवाभिनवविचारैर्व्युत्पत्तिभिश्चालङ्कृतं विभाति। भाष्येऽस्मिन्नाचार्यचरणैः शब्दव्युत्पत्तिचातुरीचमत्कारेण सर्वोपनिषदां प्रतिपाद्यः भगवान् श्रीराम एवेति सिद्धान्तितम्। मध्ये मध्ये गोस्वामिश्रीतुलसीदासग्रन्थेभ्यः ससंस्कृतरूपान्तरमुदाहृता अंशविशेषासुवर्णे सुरभिमातन्वन्ति। श्रीराघवपदपद्ममधुकराः भक्ता अत्रामन्दानन्दमाप्नुयुरिति भगवन्तं श्रीराघवं निवेदयति।

डॉ. शिवरामशर्मा
वाराणसी